॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
२५

महाकविश्रीमाघप्रणीतम्

शिशुपालवधम्

'बालबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

(परीक्षोपयोगि १-४ सर्गात्मकम्)

व्याख्याकारः—

श्री रामजीलाल शर्मा
साहित्य-दर्शनाचार्य

29203

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

दि. जी.
२१२०३

दि. जी. २१२०३

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

२५

महाकविश्रीमाघप्रणीतं

शिशुपालवधम्

'बालबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

(प्रथमो सर्गः)

29203

व्याख्याकारः—

श्री रामजीलाल शर्मा

साहित्य-दर्शनाचार्य

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ५७२१४

सर्वाधिकार सुरक्षित

षष्ठ संस्करण १९९१

मूल्य 40/-

अन्य प्राप्ति-स्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रमुख वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

MAHENDRA SANSKRIT UNIVERSITY

29203

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

25

ŚIŚUPĀLAVADHA

OF

MAHĀKAVIMĀGHA

(Canto I)

With

'Balbodhini' Sanskrit-Hindi Commentaries

By

Shri Ramjilal Sharma

Sahitya-Darshanacharya

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Booksellers)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001
Telephone : 57214

6th Edition
1990

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

*

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 63076

भूमिका

काव्यशास्त्र की उपादेयता

इस संसार में मानव जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति है। जिसका मुख्य साधन वेदशास्त्रों का ज्ञान है। परन्तु वेदशास्त्रों के नीरस तथा कठिन होने से उन्हें वे ही मनुष्य पढ़ने तथा समझने में समर्थ हैं, जिनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण एवं परिपक्व है। कोमल बुद्धिवालों के लिये तो अत्यन्त सरल एवं सरस होने से काव्य ही एक ऐसा साधन है, जो उन्हें धर्मादि की सुखपूर्वक प्राप्ति कराने में समर्थ है। जैसा कि विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा है—

'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव································॥' (सा० द० १।२)

भरत मुनि कहते हैं कि धर्मार्थियों को धर्म, कामार्थियों को काम, विद्याभिलाषुकों को विद्वत्ता तथा दीन-दुःखियों को परम शान्ति आदि देनेवाला एकमात्र काव्य ही है। रुद्रट, भामह आदि सभी विद्वानों ने काव्य की उपादेयता को स्वीकार करते हुए उसकी प्रशंसा की है। मम्मटाचार्य ने स्पष्ट कहा है—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥' (का० प्र०१।२)

अर्थात् 'काव्य यश, धन, व्यावहारिक ज्ञान, अमङ्गल का नाश, परमसन्तोष एवं कान्ता के समान हितोपदेश को देने वाला है।' पुराण एवं इतिहास आदि को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्य के द्वारा ही व्यास, वाल्मीकि, भास, कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, दण्डी, बाण, हर्ष, भोज, राजशेखर, जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ आदि सहस्रों कवियों का यश आज भी इस संसार में विद्यमान है, एवं सहस्रों-सहस्रों वर्षों तक इसी प्रकार विद्यमान रहेगा। एक-एक पद्य पर सहस्रों मुद्राएँ आदि प्राप्त होने की कथाएँ राजतरङ्गिणी आदि में उपलब्ध हैं। श्रीहर्षादि से बाणादि को अतुल धन-लाभ होने की वार्ता से कौन अपरिचित है ? सूर्यशतक (सूर्य-स्तुति) आदि से मयूरादि के कुष्ठ जैसे भयङ्कर रोगों का समूल विनाश हो जाना संसार-प्रसिद्ध ही है। यही नहीं, काव्य को आचार्यों ने ब्रह्मरूप में प्रतिपादित किया है—

'यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते ।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ ॥'

तभी तो—

'न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गम्································ ॥'

यह कहना सङ्गत होता है। यही कारण है कि परम प्रयास-साध्य—योग, जप-तप, वेद, उपनिषद् तथा दर्शनादि के परिशीलन की अपेक्षा अत्यन्त सरल, सरस एवं ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यशास्त्र के परिशीलन में लोगों की अधिक प्रवृत्ति होती है।

काव्य के भेद

दृश्य तथा श्रव्य भेद से काव्य दो प्रकार का होता है। दृश्यकाव्य को ही रूपक कहते हैं। यह रूपक नाटकादि भेद से दस प्रकार का होता है। रूपकों के समान ही कुछ विशेषता लिये हुए नाटिका आदि १८ प्रकार के उपरूपक भी होते हैं। द्वितीय श्रव्यकाव्य पद्यात्मक, गद्यात्मक तथा गद्यपद्योभयात्मक भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें पद्यात्मक काव्य—(१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य, (३) कुलक, (४) कलापक, (५) सन्दानितक, (६) युग्मक, (७) मुक्तक भेद से सात प्रकार का होता है। गद्यात्मक काव्य—कथा तथा आख्यायिका भेद से दो प्रकार का माना गया है। श्रीविश्वनाथजी के मत से गद्य—(१) मुक्तक, (२) वृत्तसन्धि, (३) उत्कलिकाप्राय और (४) चूर्णक भेद से चार प्रकार का होता है। गद्यपद्योभयात्मक काव्य को चम्पू कहते हैं। यही चम्पू यदि राजस्तुतिपरक हो तो विरुद कहलाता है और यदि अनेक भाषाओं से निबद्ध हो तो यही करम्भक कहलाता है।

महाकवि माघ का परिचय

महाकवि माघ के पिता 'दत्तक' बड़े उदार एवं दानी पुरुष थे। वे अपने यहाँ सबको आश्रय दिया करते थे, जिससे वे 'सर्वाश्रय-दाता' इस विरुद से विख्यात थे। इनके पितामह का नाम 'सुप्रभदेव' था, जो श्रीवर्मलात (वर्मनाभ, धर्मनाभ, धर्मलात) नामक राजा के मन्त्री थे। महाकवि 'माघ' के स्वरचित 'कवि-वंश-वर्णन' से इनके विषय में इतना ही परिचय प्राप्त होता है। इनके विषय में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि माघ के जन्म के समय में ही ज्योतिषियों ने इनकी जन्मपत्री को देखकर बतलाया था कि ये अपने जीवन में ही अत्यन्त गरीब हो जायेंगे। इस बात को जानकर माघ के पिता ने एक लाख रुपया प्रति मास के हिसाब से सौ वर्ष के लिए दस-बारह करोड़ मुद्राएँ सोने की हाँड़ी में भरकर जमीन में गाड़ दिया था, ताकि मेरे पुत्र माघ को जीवन में कभी भी धन की कमी न पड़े। परन्तु माघ तो बड़े दानी थे। विद्वानों को एक बार में लाखों रुपया दान में दे देना उनके लिये साधाण-सी बात थी। फल यह हुआ कि वृद्धावस्था में ये दरिद्र हो गये। भोजप्रबन्ध की किंवदन्तियों के अनुसार 'माघ' धारानरेश 'भोज' के राजकवि एवं प्रधानमन्त्री थे। अतः निर्धन होने पर इन्होंने 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः' (११।६४) इत्यादि पद्य लिखकर अपनी पत्नी को उसे लेकर राजसभा में भेजा। भोज ने पद्य को पढ़कर प्रचुर धन दिया। उसे लेकर रास्ते में आते हुए माघ की पत्नी ने उस सम्पूर्ण धन को याचकों के लिये बाँट दिया और घर जाने तक उसके पास कुछ भी न रहा। परन्तु घर तक याचकों का ताँता बँधा ही रहा। याचकों को देने के लिये अपने पास कुछ भी न देखकर महाकवि माघ ने अत्यन्त दुःख से अपने प्राण छोड़

दिये। प्रातःकाल भोज को जब यह मालूम हुआ तो वे बड़े दुःखी हुए। उन्होंने महाकवि माघ का अग्नि-संस्कार किया। माघ की पत्नी उन्हीं के साथ सती हो गई। कुछ भी हो इस कथा से 'माघ' की दानशीलता का पता चलता है।

काव्य-गुणों की दृष्टि से शिशुपालवध की समीक्षा

वस्तु-संघटना—शिशुपालवध की कथा का आधार महाभारत के सभापर्व अध्याय ३३ से ४५ तक की कथा है। महाकवि माघ ने अपनी नवीन उद्भावनाओं से इस छोटी-सी कथा को एक बीस सर्ग के महाकाव्य का रूप दिया है। कथावस्तु दो प्रकार की होती है— (१) आधिकारिक (२) प्रासङ्गिक। आधिकारिक वस्तु का साक्षात् सम्बन्ध नायक तथा काव्य के फल से होता है। परन्तु प्रासङ्गिक वस्तु में नायक से भिन्न किसी अन्य का वृत्त रहता है, जिसका परम्परया सम्बन्ध काव्य के फल से रहता है। शिशुपालवध महाकाव्य में शिशुपाल का वध ही आधिकारिक कथा है, जिसका अनेक प्रासङ्गिक वर्णनों द्वारा विस्तार किया गया है।

इस महाकाव्य की कथा को देखने पर प्रतीत होता है कि यह एक घटना-प्रधान महाकाव्य है। घटना-प्रधान काव्यों में कवि की दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है और उसका समस्त वस्तु-विन्यास उस घटना पर ही केन्द्रित रहता है। परन्तु रामायण या बुद्धचरित जैसे व्यक्ति-प्रधान महाकाव्यों में नायक के समस्त जीवन का परिचय मिलता है। यहाँ कवि की दृष्टि व्यक्ति के जीवन की सभी मुख्य घटनाओं पर रहती है। इस घटना-प्रधान शिशुपालवध महाकाव्य में शिशुपाल का वध ही मुख्य घटना है। अन्य सभी प्रासङ्गिक वर्णन उसके पोषक के रूप में हैं।

यहाँ महाकवि माघ प्रबन्ध-काव्य की इतिवृत्तनिर्वाहकता में सफल नहीं कहे जा सकते हैं। इस ओर उनका ध्यान भी नहीं है। मूलकथा पहले, दूसरे तथा चौदहवें से बीसवें सर्ग तक पायी जाती है। इसमें भी कई अप्रासङ्गिक वर्णनों का कवि ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। शेष चतुर्थ सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक का वर्णन आनुषङ्गिक है, जिसका आवश्यकता से अधिक विस्तार आलोचकों को अत्यन्त खटकता है। यह कथा के प्रवाह को रोक लेता है। वीररस-प्रधान शिशुपालवध के पूरे ६ सर्गों में शृङ्गार-लीलाओं का वर्णन वीररस को दबोच-सा लेता है। काव्य के मध्यभाग को पढ़ने पर पाठक यह समझने लगता है कि यह शृङ्गार का ही काव्य है। वस्तुतः यहाँ शृङ्गार-रस वीर-रस की चर्वणा में बाधक बन गया है।

प्रबन्ध-काव्य में सम्बन्ध निर्वाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस बात को स्वयं महाकवि माघ भी स्वीकार करते हैं—

'बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः॥' २।७२॥

अर्थात् इच्छानुसार बहुत-सी असङ्गत बातें सरलता से कही जा सकती हैं; परन्तु ऐसे प्रबन्ध को कहना कठिन है, जिसमें पदार्थों की सङ्गति विच्छिन्न न हुई हो।

वस्तुतः मुख्य घटना के साथ प्रासङ्गिक बातों का वर्णन वहीं तक उचित होता है जहाँ तक वे प्रासङ्गिक वर्णन मुख्य घटना को रोचक बनाकर श्रोताओं को भाव-मग्न करके रसानुभूति में सहायक सिद्ध हो सके। अतः ये वर्णन पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये नहीं होने चाहिये और उनका विस्तार भी मुख्य घटना के अनुकूल होना चाहिए, अत्यधिक नहीं। माघ का यह अप्रासङ्गिक वर्णनों का अत्यधिक विस्तार कथा के प्रवाह में बाधक होकर रसानुभूति में भी बाधक बन गया है।

भावाभिव्यञ्जना और रसाभिव्यक्ति

शिशुपालवध का प्रधान (अङ्गी) रस वीर है। शृङ्गार तथा रौद्रादि रस उसी में अङ्ग बनकर आये हैं। शिशुपालवध के इस वीररस पूर्ण इतिवृत्त में अप्रासङ्गिक शृङ्गार-लीलाओं के पूरे ६ सर्गों के विस्तृत वर्णन ने वीररस को दबोच-सा लिया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि माघ वीररस के सफल चित्रकार नहीं है। माघ वीर तथा शृङ्गार दोनों के सफल चित्रकार हैं। यहाँ दिग्दर्शन के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। वीररस का उदाहरण लीजिये—

'आयन्तीनामविरतरयं राजकानीकिनीना-
मित्थं सैन्यैः सममलघुभिः श्रीपतेरूर्मिमद्भिः।
आसीदोघैर्मुहुरिव महद्वारिधेरापगानां
दोलायुद्धं कृतगुरुतरध्वानमौद्धत्यभाजाम् ॥' १८।८० ॥

इस प्रकार निरन्तर वेगपूर्वक दौड़ती हुई एवं उद्धत (विपक्षी) राजाओं की सेनाओं का बड़े-बड़े तरङ्गों वाली भगवान् श्रीकृष्ण की सेनाओं के साथ अत्यन्त कोलाहल के साथ इस प्रकार युद्ध होने लगा, जिस प्रकार निरन्तर वेगपूर्वक आगे बढ़ती हुई नदियों का समुद्र के बड़े-बड़े तरङ्गों वाले प्रवाहों से गम्भीर ध्वनि के साथ संघात (टक्कर) होता है।

माघ का अष्टादश सर्ग युद्ध-वर्णनों के पूर्वरङ्ग की साज-सज्जा, सेनाओं के चलने, तलवारों के चमकने, हाथियों के चिंघाड़ने तथा योद्धाओं के द्वन्द्व-युद्ध में पिल पड़ने के चित्रवत् वर्णनों के लिये प्रशंसनीय है। अन्यत्र भी माघ के वीररस के चित्र सुन्दर बन पड़े हैं। माघ के पद-विन्यास की धीर और गम्भीर गति उनके चित्र में एक अपूर्व शोभा को जन्म देती है। रावण के साथ वरुण के युद्ध का कैसा सुन्दर चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है— युद्ध के समय वरुण रावण पर नागपाश फेंकता है, नागपाश रावण की ओर चलता है, उसे देखकर रावण क्रोध से हुङ्कार करता है तो नागपाश डरकर लौट पड़ता है और वह सर्पराजपाश भयभीत होकर वेगपूर्वक प्रहार करने वाले वरुण के गले में जाकर लिपट जाता है—

'रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभया प्रपेदिरे ॥' १।५६ ॥

माव का मन वीररस से भी अधिक श्रृङ्गार के वर्णन में रमता हुआ प्रतीत होता है। लेकिन उन्होंने सम्भोग-श्रृङ्गार का ही अधिक वर्णन किया है। उनके षड्ऋतु-वर्णन, वनविहार, मद्यपान, जलक्रीडा आदि सम्भोग श्रृङ्गार के उद्दीपन की दृष्टि से ही लिखे गये प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं विप्रलम्भ श्रृङ्गार का भी वर्णन है। उनके श्रृङ्गारिक पदों की स्निग्धता अतिशय मुग्धकारिणी है—

'यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव।
निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः॥' ३।१६॥

जिस-जिस प्रिया को प्रिय श्रीकृष्ण ने देखा उसने लज्जा से मुख को नीचा कर लिया। इस पर दूसरी युवतियाँ उस प्रियतम कृष्ण पर ईर्ष्यावश निर्भय होकर एक साथ अपने कटाक्षों से प्रहार करने लगीं।

और भी देखिये—

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणामशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः॥'११।१३॥

अर्थात् प्रातःकाल हो गया है। रात्रि की रतिक्रीडा से थककर सोये हुए दम्पत्तियों में से नायिकाएँ पहले जाग गयी हैं, परन्तु वे अपने शरीर को इसलिये नहीं हिलाती-डुलाती हैं कि कहीं उनके हाथ के हट जाने से उनके प्रियतम की नींद न टूट जाय।

महाकवि माघ ने रसाभिव्यक्ति के अनुकूल भावाभिव्यञ्जना भी की है। वीररस के स्थायिभाव उत्साह का बीज प्रथम सर्ग में दिखलाया गया है। प्रथम सर्ग में उनके आलम्बन विभाव शिशुपाल का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल में युधिष्ठिर, भीष्म तथा कृष्ण के प्रति कठोर वचन उद्दीपन विभाव हैं और सप्तदश सर्ग में अनुभावों का वर्णन किया गया है। श्रृङ्गार के आलम्बन विभाव तथा अनुभावों का भी कवि ने सफल चित्रण किया है। परन्तु श्रृङ्गार के सञ्चारी भावों के चित्रण में वे इतने सफल नहीं हुए हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि माघ वीररस तथा श्रृङ्गाररस दोनों के ही सफल चित्रकार हैं। परन्तु उनका श्रृङ्गार अत्यन्त विलासमय हो गया है, जो कि सहृदयों के हृदय में खटकता है। वस्तुतः माघ प्रेम के कवि न होकर प्रेमकला के कवि हैं। वे नायिका के हाव-भाव या नखशिख वर्णन आदि के द्वारा ही भावपक्ष की कमी को पूरा करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रकृति-चित्रण

माघ का प्रकृति-वर्णन कृत्रिमता से परिपूर्ण है। चतुर्थ सर्ग के प्रकृति-वर्णन में माघ दूर की कल्पना और यमक में फँस गये हैं तो षष्ठ सर्ग के प्रकृति-वर्णन में पूरा सर्ग यमक से भरा है। परन्तु फिर भी षष्ठ सर्ग का प्रकृति-वर्णन सरल है। नवम सर्ग का सूर्यास्त वर्णन तथा एकादश सर्ग का प्रभात-वर्णन भी अप्रस्तुत विधान से बहुत लदा हुआ है। माघ की प्रकृति प्रायः उद्दीपन पक्ष की प्रकृति है और वह भी सम्भोग श्रृङ्गार की प्रकृति।

किन्तु बीच-बीच में वियोग के चित्र भी आ जाते हैं। माघ का प्रकृति-वर्णन मुख्य रूप से तीन प्रकार का है—(१) यमक वाला प्रकृति-वर्णन, (२) शृङ्गारी अप्रस्तुत विधान वाले प्रकृति-वर्णन, (३) अन्य अप्रस्तुत विधान वाले प्रकृति-वर्णन। प्रथम प्रकार में आनेवाला चतुर्थ सर्ग का प्रकृति-वर्णन अच्छा नहीं कहा जा सकता है, जब कि छठे सर्ग का प्रकृति-वर्णन सुन्दर है। इस छठे सर्ग में दूसरी दो कोटियों के शृङ्गार का भी समावेश है। यमक, श्लेष और शृङ्गारी अप्रस्तुत विधान के साथ वर्षा का वर्णन कितना सुन्दर है—

'स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधर।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाज्जगतीधरम् ॥' ६।२५ ॥

चमकती हुई चञ्चल बिजलीवाली सघन बादलों से भरी मेघपंक्ति अपने उचित समय पर ठीक उसी तरह उपस्थित हुई, जैसे चञ्चल नेत्रों वाली, पुष्ट यौवन वाली नायिका अपने संकेतित समय पर प्रिय को प्रतीक्षा में न डालती हुई उसके पास में उपस्थित होती है।

कवि ने प्रकृति पर मानवोचित चेष्टाओं का आरोप बहुत किया है। पश्चिम दिशा अस्त होनेवाले निस्तेज सूर्य को इस प्रकार घर से निकाल देती है, जिस प्रकार वेश्या धनरहित व्यक्ति को—'निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका' (९।१०)। प्रातःकाल में चन्द्रमा पश्चिम दिशा से भागता हुआ इस तरह नजर आता है, जैसे पति के आने पर उपपति पिछले दरवाजे से भाग निकला हो—'उपपतिरिव नीचैः पश्चिमान्तेन चन्द्रः।' ११।६५ ॥

माघ के दूसरे ढङ्ग के अप्रस्तुत विधान के प्रकृति-वर्णन एकादश सर्ग में अधिक सुन्दर बन पड़े हैं। प्रातःकालीन सूर्य का बाल रूप में चित्रण कवि के सरस हृदय का परिचायक है।

'उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन्
सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः
परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः ॥' ११।४७ ॥

उदयाचल के शिखर रूपी आङ्गन में रेंगता (घुटनों के बल चलता) हुआ कमलिनियों के द्वारा कमल रूपी मुख के हास्य के साथ देखा गया कोमल हस्ताग्र (अनुष्ण किरणाग्र वालसूर्य पक्षियों के कलरव के द्वारा बुलाती हुई (मातृतुल्य) आकाश की गोदी में जा रहा है। इस पक्ष में श्लेष अतिशयोक्ति तथा रूपक का सङ्कर पाया जाता है।

रैवतक से बहने वाली नदियों के वर्णन में कवि अपने प्रेमी हृदय का परिचय देता है—

'अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥' ४।४७ ॥

पहाड़ी नदियाँ कलकल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर उसकी (रैवतक की) गोद में लेटा करती हैं। अतः ये रैवतक की बेटियाँ हैं। आज वे अपने पति

समुद्र से मिलने जा रही है। इस कारण रैवतक चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा जान पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है।

कहना न होगा, माघ के प्रकृति-वर्णन का खास सौन्दर्य अप्रस्तुत विधान पर ही आधृत है।

बालबोधिनी की विशेषता

इस टीका में अवतरण, अन्वय, पर्याय, भावार्थ, कोश, समास, व्याकरण तथा हिन्दी अनुवाद एवं विषम स्थलों पर उपयोगी टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।

समास-विग्रह आदि में संक्षेप नहीं किया गया है, किन्तु छात्रों की सुविधा के लिए प्रायः पूरा-पूरा समास व विग्रह दिया गया है। पर्याय भी एक-एक शब्द के २–३ दिये गये हैं। इससे विद्यार्थियों को स्वयं पर्याय बनाने का अभ्यास हो सकेगा। पर्यायों में भी प्रचलित एवं सरल शब्दों का प्रयोग किया गया है। संस्कृत व्याख्या में—छन्द, अलङ्कार तथा ध्वनि आदि का यथास्थान समुचित निर्देश किया गया है, जिससे छात्र तथा अध्यापक सभी लाभ उठा सकें।

हिन्दी अनुवाद में अन्वय के अनुसार अक्षरशः अर्थ किया गया है, जिससे कि छात्रों को शब्दार्थ समझने में कठिनाई न हो। कठिन स्थलों को सुबोध बनाने के लिये टिप्पणियों द्वारा अर्थ स्पष्ट किया गया है। सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ भी टिप्पणी में दे दी गई है। ग्रन्थ के आरम्भ में गवेषणापूर्ण भूमिका एवं कथासार भी राष्ट्रभाषा में लिखे गये हैं।

यद्यपि इस टीका के निर्माण में हमारा कोई आलोचनात्मक लक्ष्य नहीं रहा है। हाँ, कवि के अन्तस्तल में पहुँचने का अवश्य प्रयत्न किया है। इसीलिये हमें यत्र-तत्र व्याख्यानों का निराकरण करना पड़ता है, जिससे कि पाठक-गण इन व्याख्यानों से भ्रान्ति में न पड़कर वास्तविकता को समझें।

इस प्रकार यह संस्करण सर्वाङ्गपूर्ण हुआ है। परीक्षार्थियों के लिए इतनी अधिक सुविधा अभी तक सुलभ किसी संस्करण में नहीं थी, जैसी सुन्दर उपयोगी व्यवस्था प्रस्तुत बालबोधिनी में रखी गई है।

इस संस्करण से यदि विद्वानों एवं छात्रों को कुछ भी लाभ एवं सन्तोष हुआ तो मैं अपने इस परिश्रम को सफल समझूँगा।

विदुषां वंशवद—

रामजीलाल शर्मा

संक्षिप्त कथासार

(प्रथम सर्ग)

नारदजी का द्वारकापुरी में आकर श्रीकृष्ण भगवान् से शिशुपाल-वध करने का इन्द्र-संदेश कहना

एक बार द्वारकापुरी में अपने भवन में बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने आकाश-मार्ग से आते हुए नारदजी को देखा। वे मुञ्ज की मेखला, यज्ञोपवीत एवं रुद्राक्षमाला को धारण किये हुए थे। इनकी पीली जटाएँ हिमालय पर उत्पन्न एवं पकी हुई पीली लताओं के समान मालूम पड़ती थीं। उनके शरीर पर पड़ा हुआ मृगचर्म ऐरावत हाथी पर पड़ी हुई रंग-बिरंगी झूल जैसा प्रतीत होता था। वे अपनी अंगुलियों से वीणा बजा रहे थे और इस वीणा की ध्वनि में स्वर, ग्राम एवं मूर्च्छना स्पष्ट सुनाई दे रहे थे।

नारदजी के आते ही भगवान् श्रीकृष्ण अपने आसन से उठ बैठे एवं उन्हें स्वयं आसन पर बैठाकर अर्घ्यादि पूजा से उनका सत्कार करके आगमन का कारण पूछा। नारदजी ने भी भगवान् श्रीकृष्ण की अनेक प्रकार से स्तुति कर अपने आने का कारण कहा—'हे भगवन्! आप पृथिवी का भार उतारने के लिये इस पृथिवी पर अवतीर्ण हुए हैं, परन्तु तीनों लोकों को धारण करने वाले आप अपने ही बोझ से इसे भारी बना रहे हैं! अतः इस पृथिवी का भार उतारने के लिये इन्द्र ने मुझे सन्देश लेकर भेजा है। कृपया आप उसे सुनें—

प्राचीन काल में हिरण्यकशिपु नाम का एक अत्यन्त विख्यात एवं भयङ्कर असुर हुआ, जिसने अपने पराक्रम से इन्द्रादि देवों को भी वश में कर लिया था। उस दुष्ट का वध आपने ही नृसिंहावतार में किया था। वही असुर दूसरे जन्म में रावण हुआ, जिसने इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, वायु, दिग्गज, एवं षड् ऋतुओं को भी अपने वश में करके अपनी सेवा में नियुक्त किया। यहीं नहीं, उसने आपकी धर्मपत्नी सीता का भी अपहरण किया। उस समय रामरूप में स्थित आपने उस रावण का लङ्का में ही वध किया था। यह बात आपको स्मरण है क्या? वही रावण शिशुपाल के रूप में इस समय पृथिवी पर पैदा हुआ है, जो अब भी संसार को बुरी तरह से पीड़ित कर रहा है। अतः आप उस दुष्ट का वध करके इन्द्रादि देवों को दुःख से मुक्त करें।'

इस प्रकार सन्देश कहकर नारदजी के चले जाने पर शिशुपालवध की स्वीकृति देने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने शिशुपाल के प्रति क्रोध से भ्रुकुटि चढ़ाई।

॥ श्रीः ॥

श्रीमन्माघमहाकविप्रणीतं

शिशुपालवधम्

'बालबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम्

प्रथमः सर्गः

विघ्नानि देव सवितर्दुरितानि यानि,
सर्वेश दूरमपयान्त्वचिरेण तानि ।
भद्राणि यानि भुवनेष्वपि यत्र सन्ति,
तान्यात्रजन्तु निखिलानि तव प्रसादात् ॥
गुरून् प्रणम्य शिरसा सर्वशास्त्रेषु पारगान् ।
श्रीरामलोटनान् धीरान् निर्गताशेषकल्मषान् ॥
विदुषा बुधमोदाय रामजीलालशर्मणा ।
व्याख्या माघे महाकाव्ये क्रियते बालबोधिनी ॥

अथ तत्रभवान् महाकविर्माघः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वात्, शिशुपालवधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुः, चिकीर्षितस्यास्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नसमाप्त्यर्थम् 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्' इत्याशीराद्यन्यतमस्य प्रवन्ध-मुख-लक्षणत्वात् काव्यफल-शिशुपालवध-बीजभूतं भगवतः श्रीकृष्णस्य नारददर्शनरूपं वस्तु प्रथमं श्री-शब्द-प्रयोगपूर्वकं निर्दिशन् कथामुपक्षिपति—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासः वसुदेवसद्मनि ।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥ १ ॥

अन्वयः—श्रियः पतिः जगन्निवासः जगत् शासितुं श्रीमति वसुदेवसद्मनि वसन् हरिः अम्बरात् अवतरन्तं हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं ददर्श ।

बालबोधिनी—श्रियः=लक्ष्म्याः, रुक्मणीरूपाया इति यावत्। पतिः=भर्ता। 'पतिर्भर्ता' इत्यमरः। 'राघवत्वे भवेत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि' इति विष्णुपुराणात्। अनेन रुक्मिणीस्वयंवरानन्तरकालमियं काव्यकथा प्रवृत्तेति सूचितम्। जगन्निवासः=जगदाधारभूतः। जगत्=विश्वम्। शासितुं=नियन्तुम्, साधुसम्मानासाधुदमनाभ्यां व्यवस्थापयितुमित्यर्थः। श्रीमति=शोभासम्पन्ने, सर्वसमृद्धियुक्ते। वसुदेवसद्मनि=वसुदेवगेहे, कश्यपावतारस्य वसुदेवनामकस्य स्वपितुः भवने इति भावः। 'वसुदेवोऽस्य जनकः' इत्यमरः। वसन्=तिष्ठन्। हरिः=श्रीकृष्णः। अम्बरात्=आकाशात्। अवतरन्तम्=आगच्छन्तम्, इन्द्रसन्देशकथनार्थमिति भावः। हिरण्यगर्भाङ्गभुवं=ब्रह्मणो मानसपुत्रम्। मुनिम्=ऋषिं नारदम्। ददर्श=अवलोकयामास। कदाचिदिति शेषः। अत्राल्पीयस्यपि वसुदेवसद्मनि सकलजगदाश्रयतया—महीयसो हरेराधेयत्वकथनादधिकनामकोऽलङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते' इति। किञ्च जगन्निवासस्यापि वसुदेवसद्मरूपजगदेकदेशनिवासित्वमिति विरोधाभासश्च। अन्यच्च लकारसकारादेकधा (स्वरूपतः) असकृच्चावृत्त्या जगज्जगदिति वर्णसमुदायस्य स्वरूपतः क्रमतश्च सकृदावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासौ शब्दालङ्कारौ। एषां चान्योऽन्यनैरपेक्ष्येण तिलतण्डुलन्यायेनैकत्र समावेशात् संसृष्टिः। अस्मिन् सर्गे सर्वत्र वंशस्थवृत्तम्। 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात्।

कोशः—'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च, कमला श्रीहरिप्रिया' इति चामरः। 'श्रीर्वेशरचना शोभा' इत्यमरमेदिन्यौ। 'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः। 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः। 'अम्बरम्। आकाशविहायसी' इत्यमरः।

समासः—श्रयति हरिं या सा श्रीः, तस्याः श्रियः। श्रीर्विद्यते यस्मिन् तत् श्रीमत्, तस्मिन् श्रीमति। निवसन्ति जना अस्मिन् असौ निवासः, जगतां निवासः जगन्निवासः (त० पु०)। वसुदेवस्य सद्म वसुदेवसद्म, तस्मिन् वसुदेवसद्मनि (त० पु०)। हिरण्यस्य गर्भः हिरण्यगर्भः, अङ्गाद् भवतीति अङ्गभूः, हिरण्यगर्भस्य अङ्गभूः हिरण्यगर्भाङ्गभूः, तं हिरण्यगर्भाङ्गभुवम् (त० पु०)।

व्याकरणम्—श्रीमति—श्री+मतुप्। शासितुम्—शासु+भावे तुमुन्, इडागमः। गच्छतीति जगत्—गम्+कर्तरि क्विप्। निवासः—नि—वस अधिकरणे घञ्। वसन्—वस+शतृ। अवतरन्तम्—अव+तृ+शतृ। ददर्श—दृश+लिट्+तिप्+णल्। अङ्गभुवम्—अङ्गभू+क्विप् लोपः, अमि उवङ्।

हिन्दी—(श्रीमहाकवि माघ श्री-शब्द-प्रयोगपूर्वक श्रीकृष्ण के नारद-दर्शन रूप वस्तु का निर्देश करते हुए कथा का आरम्भ करते हैं—) लक्ष्मी के स्वामी, समस्त लोकों के निवासस्थान (तथा) संसार का शासन करने के लिए, अत्यन्त शोभायमान (कश्यपावतार अपने पिता) वसुदेव के घर में निवास करते हुए (विष्णु के अवतार) श्रीकृष्ण भगवान् ने आकाश से उतरते हुए ब्रह्मा के पुत्र नारद मुनि को देखा ।

टिप्पणी—**शिशुपालवधम्**—'शिशुपालस्य वधः शिशुपालवधः, स वर्णनीयो यस्मिन् काव्ये तत् शिशुपालवधम्, व्यधिकरणबहुव्रीहिः ।' शिशुपाल के वध का जिसमें वर्णन है वह काव्य । पुराणों के अनुसार रुक्मिणी लक्ष्मी की अवतार-रूपा मानी जाती है तथा वसुदेव कश्यपावतार और श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार माने जाते हैं । **जगन्निवासः**—प्रलयकाल में सम्पूर्ण चराचर जगत् उस परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाता है । जैसे कि गीता में कहा है—

'सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्' ॥ ९।७ ॥

तथा 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्'–यजुर्वेद अ०२५, म० १० । **हिरण्यगर्भाङ्ग-भुवम्**—ब्रह्मा के अङ्ग से उत्पन्न होने वाला अर्थात् ब्रह्मा-पुत्र नारद । मनुस्मृति में बताया गया है कि ईश्वर ने अपने शरीर से विविध जीवों की सृष्टि की इच्छा से सबसे पहले जल को उत्पन्न किया, तब उसमें सृष्टि का बीज डाल दिया । वह बीज सुवर्णमय अण्डरूप हो गया और उसी अण्डे से सम्पूर्ण लोकों के पिता ब्रह्मा पैदा हुए, देखिए—

'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥'

इसलिए ब्रह्मा का नाम हिरण्यगर्भ है -(मनु० १।८-९) । भागवत के अनुसार ब्रह्मा के शरीर से दस प्रजापतियों की उत्पत्ति हुई । उनमें एक नारद भी है, जो ब्रह्मा की गोद से उत्पन्न हुए । १० प्रजापतियों की उत्पत्ति का वर्णन भागवत में इस प्रकार है—

'अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः ॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसो पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥
उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः ।
प्राणाद् वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः ॥
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः ।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत् ॥'

(भागवते स्क० ३, अ० १२, श्लोक २१-२४) ॥ १ ॥

तदा जनैर्विस्मयेनेक्षितुं प्रवृत्तमित्याह—

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥ २ ॥

अन्वयः—अनूरुसारथेः गतं तिरश्चीनं (प्रसिद्धम्) । हविर्भुजः ऊर्ध्वज्वलनं प्रसिद्धम् । (इदन्तु) सर्वतः विसारि धाम अधः पतति । 'एतत् किम्' इति जनैः आकुलम् (यथा स्यात्तथा) ईक्षितम् ।

बालबोधिनी—अनूरुसारथेः = सूर्यस्य । गतं = गतिः । तिरश्चीनम् = तिर्यक् पूर्वान्तात् पश्चिमान्तमित्यर्थः । (प्रसिद्धम् = विख्यातम्) हविर्भुजः = अग्नेः । ऊर्ध्वज्वलनम् = उर्ध्वस्फुरणम् । प्रसिद्धम् = विख्यातम् । (इदन्तु पुरतो दृश्यमानम्) सर्वतः = समन्ततः । विसारि = प्रसरणशीलम् । धाम = तेजः । अधः = अधस्तात्, गगनाङ्गणाद् भुवस्तलम् । पतति = आगच्छति । एतत् = पुरोदृश्यमानं धाम । किम् = किमात्मकम् । इति = इत्थम् । जनैः = द्वारकावासिभिः सामान्यलोकैः । आकुलं = विस्मयेन सम्भ्रान्तं यथा स्यात्तथा । ईक्षितम् = दृष्टम् । अत्रोपमेयस्य मुनिधाम्नः सूर्याग्निभ्यामुपमानाभ्यामधो विसरणधर्मेणाधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः । यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्यूनताथवा । व्यतिरेकः' ।

कोशः—'सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः काश्यपिर्गरुडाग्रजः' इत्यमरः । 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हैमः । 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विश्वगित्यपि' इत्यमरः ।

समासः—अविद्यमानौ ऊरू यस्यासौ अनूरुः, अनूरुः सारथिः यस्य स अनूरुसारथिः, तस्य अनूरुसारथेः (ब० व्री०) । हविर्भुङ्क्ते इति हविर्भुक्, तस्य हविर्भुजः (त० पु०) । ऊर्ध्वञ्च तत् ज्वलनञ्च ऊर्ध्वज्वलनम् ।

व्याकरणम्—गतम्—गम् + भावे क्तः, अनुनासिकलोपः । तिरश्चीनम्—

तिरस्+अञ्च+'विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्' इति स्वार्थे खः, ईनादेशः । प्रसिद्धम्—प्र+षिध्+क्तः । विसारि—वि+सृ+णिनिः । ईक्षितम्—ईक्ष+भावे क्तः ।

हिन्दी—सूर्य की गति तो तिरछी होती है और अग्नि का ऊपर की ओर जलना प्रसिद्ध है, परन्तु यह तो सब ओर फैलने वाला तेज नीचे की ओर गिर रहा है । यह क्या है ? इस प्रकार द्वारकावासी लोगों ने व्याकुलतापूर्वक देखा ।

टिप्पणी—अनूरुसारथिः—कश्यप की विनता नाम की स्त्री से, जो एक पक्षिणी थी, दो अण्डे उत्पन्न हुए । उनमें से एक अण्डे को अर्ध पका ही फोड़ डाला । इस अण्डे से जो बच्चा पैदा हुआ उसके ऊपरी अवयव तो पूर्णतया बन गये थे, लेकिन पैर के अवयव अभी पूर्ण नहीं हुए थे । इसलिये उसका नाम अनूरु पड़ा । पूर्ण ताप न मिलने के कारण उसे सूर्य के ताप की आवश्यकता प्रतीत होती थी । इसलिए कश्यप के आदेश से इस बच्चे को सूर्य का सारथि बना दिया गया, जो आज भी सदा उसी के साथ रहता है । इसी का नाम अरुण है । दूसरे अण्डे से जो पूर्ण पक जाने पर फोड़ा गया था उससे गरुड़ पैदा हुए ॥ २ ॥

अथ भगवान् कृष्णः क्रमेण तं ज्ञातवानित्याह—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम् ।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः ॥ ३ ॥

अन्वयः—विभुः सः पुरा त्विषां चयः इत्यवधारितम् । ततः विभाविताकृतिम् शरीरीति (अवधारितम्) । (ततः) विभक्तावयवं पुमानिति (अवधारितम्) । अमुं क्रमात् नारदः इत्यबोधि ।

बालबोधिनी—विभुः=वस्तुतत्त्वनिर्धारणसमर्थः । सः=हरिः । पुरा=आदौ, प्रथम-दर्शने इत्यर्थः । त्विषां=तेजसाम् । चयः=समूहः । इति=एवम् । अवधारितम्=विनिश्चितम् । ततः=तदनन्तरम्, किञ्चित्सामीप्ये सतीत्यर्थः । विभाविताकृतिं=लक्षितमूर्तिम् । (अत एव) शरीरी=प्राणी । इति=एवम् । (अवधारितम्=विनिश्चितम् ।) (ततः=तदनन्तरम्, सामीप्याधिक्ये सतीत्यर्थः ।) विभक्तावयवं=स्पष्टविज्ञातमुखाद्यङ्गम् । (अत एव) पुमान्=पुरुषः । इति=इत्येवम् । अवधारितम्=विनिश्चितम् । अमुम्=आकाशादायान्तं व्यक्तिविशेषम् । क्रमात्=पूर्वोक्तरीत्या सामान्यविशेषज्ञानक्रमेण । नारदः=नारदोऽयम् । इति=इत्थम् । अबोधि=ज्ञातवान् । नारदोऽयमिति निश्चितवान् । अत्र विभाविताकृति

विभक्तावयवमित्यादिना आकृति-विभावनावयवविभावनपदार्थौ विशेषणावृत्त्या शरीरत्वपुंस्त्वनिर्धारणे हेतुत्वेनोपन्यस्ताविति हेतोरत्र पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्ग-मलङ्कारः ।

कोशः—'चयः समूहे' इति मेदिनी । 'प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुर्जन्युः शरीरिणः' । 'विभुः प्रभौ व्यापके' इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः ।

समासः—विभाविता आकृतिर्यस्य स विभाविताकृतिः, तं विभाविताकृतिम् (ब० व्री०) । विभक्ता अवयवा यस्य स विभक्तावयवः, तं विभक्तावयवम् । (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—चयः—चि + भावे अच् । अवधारितम्—अव + धृ + णिच् + क्तः, इडागमः । शरीरी—शरीर + मत्वर्थे इनिः । अबोधि—बुध + कर्तरि लुङ् + त 'दीपजनवुध०' इत्यादिना चिण् 'चिणो लुक्' इति तस्य लुकि ।

हिन्दी—(तदनन्तर श्रीकृष्ण भगवान् ने उन्हें शनैः-शनैः पहचान लिया । वह कहते हैं—) वस्तु के स्वरूप का निर्धारण करने में समर्थ भगवान् श्रीकृष्ण ने (अमुम्) उस आकाश से आते हुए पुरुष-विशेष को पहले तेजपुञ्ज समझा । तदनन्तर थोड़ा नीचे आने पर कुछ-कुछ हस्तादि अवयवों के झलकने पर 'यह कोई प्राणी है' ऐसा समझा । इसके बाद और नीचे आने पर (तथा) मुखादि अवयवों के दिखाई पड़ने पर कोई पुरुष समझा । इस क्रम से अन्त में 'ये नारद हैं'—ऐसा जाना ।

टिप्पणी—यहाँ से 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इस वाक्यांश का सम्बन्ध अगले सात श्लोकों में भी रहेगा । अतः 'अबोधि' इस एक ही क्रिया के आठ श्लोकों में अन्वित होने से यहाँ आठ श्लोकों का कुलक है । पाँच या उससे अधिक श्लोकों में एक क्रिया के अन्वित होने पर कुलक होता है । जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा है—

'छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ॥
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्' ॥ इति ॥ ३ ॥

अथायान्तं नारदं सप्तभिः श्लोकैर्वर्णयन् तस्य शिवौपम्यं दर्शयति—

नवानधोऽधो बृहतः पयोधरान् समूढ-कर्पूर-पराग-पाण्डुरम् ।
क्षणं क्षणोत्क्षिप्त-गजेन्द्र-कृत्तिना स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना ॥ ४ ॥

अन्वयः—नवान् बृहतः पयोधरान् अधोऽधः (स्थितम्) समूढकर्पूरपराग-

पाण्डुरम् क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना भूतिसितेन शम्भुना स्फुटोपमम् अमुं (सः क्रमान्नारद इत्यबोधि इति पूर्वेणान्वयः)।

बालबोधिनी—नवान् नवीनान्, सद्यः सम्भृतजलान् अतिनीलानिति यावत्। बृहतः = विपुलान्। पयोधरान् = मेघान्। अधोऽधः = मेघानां समीपाधःप्रदेशे। स्थितमिति शेषः। समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम् = पुञ्जीकृतकर्पूरचूर्णतुल्यधवलम्। (अत एव) क्षणं = क्षणमात्रम्। मेघसमीपावस्थान-क्षणे इत्यर्थः। क्षणोत्क्षिप्त-गजेन्द्रकृत्तिना = ताण्डवोत्सवावसरोपरिधारितगजेन्द्रचर्मणा। भूतिसितेन = भस्म-गौरेण। शम्भुना = शिवेन। स्फुटोपमं = व्यक्तसादृश्यम्। इतःप्रभृति सप्तसु श्लोकेषु 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इति पूर्वेणान्वयः।

कोशः—'पयोधरः कुचे मेघे' इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः। 'समूढः पुञ्जिते भुग्ने' इति विश्वः। 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः। 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' इत्यमरः। 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः।

समासः—धरन्तीति धराः, पयसां धराः पयोधराः, तान् पयोधरान् (त० पु०)। कर्पूरस्य परागः कर्पूरपरागः, समूढश्चासौ कर्पूरपरागः समूढकर्पूरपरागः, समूढकर्पूरपराग इव पाण्डुरः समूढकर्पूरपरागपाण्डुरः, तम् (क० धा०)। गजानामिन्द्रो गजेन्द्रः (त० पु०), गजेन्द्रस्य कृत्तिः गजेन्द्रकृत्तिः (त० पु०), क्षणे उत्क्षिप्ता गजेन्द्रकृत्तिर्येन सः, तेन (ब० व्री०)। स्फुटा उपमा यस्य सः, तम् (ब० व्री०)। भूत्या सितो भूतिसितः, तेन (त० पु०)।

व्याकरणम्—पयोधरान् इत्यत्र 'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु' इति वार्तिकेन अधोऽधः शब्दयोगे द्वितीया। क्षणमित्यत्र अत्यन्तसंयोगे द्वितीया।

हिन्दी—(यहाँ से लेकर सात श्लोकों में नारदजी का वर्णन करते हैं—) नवीन अतएव जलपूर्ण होने से कृष्ण वर्णवाले, बड़े-बड़े बादलों के नीचे स्थित (तथा) ढेर किये हुए या पीसे हुए कर्पूर की धूलि के समान श्वेत वर्ण अतएव ताण्डव के समय अपने ऊपर हाथी के चर्म को ओढ़े हुए तथा भस्म पोतने से शुभ्र वर्ण वाले शिवजी के समान प्रतीत होने वाले नारद मुनि को भगवान् श्रीकृष्ण ने पहचान लिया।

टिप्पणी—कहा जाता है कि गज नामक एक असुर ने, जो मारने पर भी अपने चर्म से भूमि का स्पर्श होने पर पुनः जीवित हो जाता था, सब देवता और मनुष्यों को पीड़ित करना आरम्भ किया। इससे दुःखी होकर उन्होने शिव की शरण ली। शिवजी ने उस राक्षस को मारकर उसके चर्म को अपने ऊपर

धारण कर लिया। अतएव वह पुनर्जीवित न होकर संसार को पीड़ित न कर सका। तभी से शिवजी का नाम कृत्तिवासा (चर्म को धारण करने वाला) पड़ा ॥ ४ ॥

नारदस्य हिमालयसादृश्यमाह—

दधानमम्भोरुह-केसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् ।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव ॥ ५ ॥

अन्वयः—अम्भोरुहकेसरद्युतीः जटाः दधानं शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् (अत एव) विपाकपिङ्गाः तुहिनस्थलीरुहः व्रततीततीः दधानं धराधरेन्द्रमिव (स्थितम्) ('अमुं नारद इत्यबोधि सः') ।

बालबोधिनी—अम्भोरुहकेसरद्युतीः=कमलकिञ्जल्कप्रभाः, कमलकेसरसदृशपीतवर्णा इत्यर्थः। जटाः=सटाः। दधानं=धारयन्तम्। शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्=शरदिन्दुकान्तिधवलम्। (अत एव) विपाकपिङ्गाः=परिपाकपिङ्गलाः। तुहिनस्थलीरुहः=तुषारभूमिसमुत्पन्नाः। व्रततीततीः=लतासमूहान्। दधानं=धारयन्तम्। धराधरेन्द्रं=पर्वतराजं, हिमालयम्। इव=यथा। (स्थितम्) ('अमुं सः=हरिः नारद इत्यबोधीति पूर्वेणान्वयः)। धराधरेन्द्रमिव इत्यत्र इवशब्दप्रयोगात् वाच्योत्प्रेक्षा, यदुक्तं साहित्यदर्पणे—

'भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।
वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता ॥
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः ।'

कोशः—'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः। 'जटाः सटाः' इत्यमरः। 'वल्ली तु व्रतती लता' इत्यमरः।

समासः—अम्भसि रोहन्तीति अम्भोरुहाणि (त० पु०), तेषां केसराणि, तेषां द्युतिरिव द्युतिर्यासां ताः अम्भोरुहकेसरद्युतयः, ताः अम्भोरुहकेसरद्युतीः (ब० व्री०)। शरदः चन्द्रः शरच्चन्द्रः (त० पु०), शरच्चन्द्रस्य मरीचय इव रोचिर्यस्य सः, तं शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् (ब० व्री०)। विपाकेन पिङ्गाः विपाकपिङ्गाः, ताः विपाकपिङ्गाः (त० पु०)। तुहिनस्य तुहिनप्रधाना वा स्थली तुहिनस्थली, तस्यां रोहन्तीति तुहिनस्थलीरुहः, ताः तुहिनस्थलीरुहः (त० पु०)। धरन्तीति धराः, धरायाः धराः धराधराः, तेषामिन्द्रस्तं धराधरेन्द्रम् (त० पु०)।

व्याकरणम्—दधानम्—धा+शानच्। तुहिनस्थलीरुहः—तुहिनस्थली +रुह्+क्विप्+शस्।

हिन्दी—कमल के केसर के समान कान्तिवाली (पिली) जटाओं को धारण किये हुए (तथा स्वयं) शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों के समान (शुभ्रतम) कान्तिवाले अतएव परिपाक से पीतवर्ण, बर्फीली भूमि में उगने वाली लताओं के समूह को धारण किये हुए, पर्वतराज हिमालय के समान प्रतीत होने वाले उस पुरुष-विशेष को श्रीकृष्ण ने 'ये नारद हैं' ऐसा जान लिया।

टिप्पणी—कुछ आलोचकों के मतानुसार बर्फीली भूमि में लताओं की उत्पत्ति न होने से यह उपमान असङ्गत है, परन्तु दूसरे लोग विष-कीट न्याय से उसका समाधान इस प्रकार करते हैं—जिस प्रकार विष में उत्पन्न होने-वाला कीट उसी विष को खाता हुआ बढ़ता है, उस विष से मरता नहीं है। इसी प्रकार यहाँ भी बर्फीली भूमि में लताओं का उत्पन्न होना और पकना कहा है॥ ५॥

नारदस्य बलभद्रौपम्यमाह—

पिशङ्गमौञ्जीयुजमर्जुनच्छविं वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति।
सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम्॥ ६॥

अन्वयः—पिशङ्गमौञ्जीयुजम् अर्जुनच्छविम् अञ्जनद्युति एणाजिनं वसानं (अत एव) सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां शितिवाससस्तनुं विडम्बयन्तम् (अमुं नारद इत्यबोधि)।

बालबोधिनी—पिशङ्गमौञ्जीयुजम् = पिङ्गलवर्णमुञ्जनिर्मितमेखलाधारिणम्। (पुनश्च स्वयं) अर्जुनच्छविं=धवलकान्तिम्, गौरवर्णम्। अञ्जनद्युति= कज्जलच्छवि, कृष्णवर्णमित्यर्थः। एणाजिनं=मृगचर्म। वसानम्=ओच्छादयन्तम्, परिदधानम्। (अत एव) सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां = कनकमेखलाबद्धाधोवसनाम्। शितिवाससः = नीलाम्बरस्य, बलभद्रस्य। तनुं = शरीरम्। विडम्बयन्तम् = अनुकुर्वन्तम्। अमुं सः = हरिः नारद इत्यबोधीति पूर्वेणान्वयः। अत्र 'विडम्बयन्तम्' इत्यनेन नारदस्य बलरामौपम्यमर्थप्रतीतेरनन्तरमेव गम्यते इति आर्थीयमुपमा।

कोशः—'कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ' इत्यमरः। 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' इत्यमरः। 'नीलाम्बरो रौहिणेयस्तालाङ्को मुसली हली' इत्यमरः। 'अथ कलेवरम्। गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः॥ कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः।' इत्यमरः।

समासः—मुञ्जस्य विकारो मौञ्जी, पिशङ्गी चासौ मौञ्जी पिशङ्गमौञ्जी, तया युज्यते इति पिशङ्गमौञ्जीयुक्, तं पिशङ्गमौञ्जीयुजम् (क० त०)। अर्जुना छविर्यस्य सः, तम् अर्जुनच्छविम् (ब० व्री०)। एणस्य अजिनम् एणाजिनं, तत् एणाजिनम् (प० त०)। अञ्जनस्य द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तत् अञ्जनद्युति (ब० व्री०)। सुवर्णस्य सूत्रं (त० पु०) सुवर्णसूत्रम्, सुवर्णसूत्रेण आकलितम् अधराम्बरं यस्याः सा, तां सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बराम् (ब० व्री०)। शिति वासो यस्य स शितिवासा, तस्य शितिवाससः (ब० व्री)। विडम्बयतीति विडम्बयन्, तं विडम्बयन्तम्।

व्याकरणम्—पिशङ्गमौञ्जीयुजम्–पिशङ्गमौञ्जी + युज् + क्विप् + अम्। वसानम्—वस + शानच्। विडम्बयन्तम्—विडम्ब + णि + शतृ + अम्।

हिन्दी—पीली मूँज की करधनी पहिने हुए (तथा स्वयं) शुभ्र वर्ण वाले और काले मृगचर्म को धारण किये हुए (अत एव) सोने की करधनी से बँधी हुई नीली धोती वाले (शुभ्र वर्ण वाले) बलराम के शरीर का अनुकरण करने वाले उस पुरुष को 'ये नारद हैं' ऐसा समझ लिया।

टिप्पणी—ब्राह्मण की मेखला मूँज की, क्षत्रिय की मूर्वा घास की धनुष की डोरी के समान और वैश्य की सन के धागे की बनी हुई बराबर-बराबर तीन लड़ियों वाली चिकनी होनी चाहिए, जैसा कि मनुस्मृति (अ० २, श्लो० ४२) में कहा है—

'मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी' ॥ ६ ॥

अथ नारदस्य शरन्मेघसादृश्यमाह—

विहङ्गराजाङ्गरुहैरिवायतैर्हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः।
कृतोपवीतं हिमशुभ्रमुच्चकैर्घनं घनान्ते तडिताङ्गणैरिव ॥ ७ ॥

अन्वयः—विहङ्गराजाङ्गरुहैः इव आयतैः हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः कृतोपवीतं हिमशुभ्रं घनान्ते तडिताङ्गणैः (उपलक्षितम्) उच्चकैः घनम् इव स्थितम्) ('क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इति पूर्वेणान्वयः)।

बालबोधिनी—विहङ्गराजाङ्गरुहैः = गरुडलोमभिः। इव = यथा। आयतैः = दीर्घैः। हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः = सुवर्णमयभूमिसमुत्पन्नलतासूत्रैः। कृतोपवीतं = विरचितयज्ञसूत्रम्। (स्वयञ्च) हिमशुभ्रं = तुषारधवलम् (अत एव)

घनान्ते=शरदि । तडितां=विद्युताम् । गणैः=समूहैः । गणैरित्यस्य स्थाने गुणैरिति पाठान्तरे दामभिरित्यर्थः । (उपलक्षितम्) उच्चकैः=उन्नतम् । घनं=मेघम् । इव=यथा । शोभमानममुं सः=हरिः नारद इत्यबोधीति पूर्वेणान्वयः । अत्र वाच्योत्प्रेक्षालङ्कारः । लक्षणन्तु प्रागेवोक्तम् ।

समासः—विहायसा गच्छन्तीति विहङ्गाः, तेषां राजा विहङ्गराजः, तस्य अङ्गरुहाः, तैः विहङ्गराजाङ्गरुहैः (ष० त०) । हिरण्यस्य विकारः हिरण्मयी, हिरण्मयी चासौ उर्वी च हिरण्मयोर्वी, तस्यां रोहन्तीति हिरण्मयोर्वीरुहाः, ताश्च ताः वल्लयः हिरण्मयोर्वीरुहवल्लयः, तासां तन्तवस्तैः हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः (त० पु०) । कृतम् उपवीतं येन सः, तं कृतोपवीतम् (ब० व्री०) । हिममिव शुभ्रः हिमशुभ्रः, तं हिमशुभ्रम् (उपमित० स०) । घनानाम् अन्तः घनान्तः, तस्मिन् घनान्ते (ष० त०) ।

व्याकरणम्—आयतैः—आ+यम्+क्तः । उच्चकैः—उच्चैरित्यव्ययात् 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' (४।३।७१) इति स्वार्थे अकच् । गणैः—इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया । हिरण्यस्य विकारः 'हिरण्मयी' इत्यत्र 'दाण्डिनायन०' (६।४।१७४) इत्यादिना मयटि यलोपनिपातः ।

हिन्दी—पक्षिराज गरुड के केशों के समान लम्बे-लम्बे सुवर्णमयी भूमि में उत्पन्न होने वाली लताओं के तन्तुओं से बने हुए, यज्ञोपवीत को धारण किए हुए (तथा स्वयं) बर्फ के समान अत्यन्त शुभ्र वर्ण (अत एव) शरत्काल में बिजली से युक्त (शुभ्र वर्ण) मेघ के समान शोभायमान नारदजी को भगवान् श्रीकृष्ण ने पहिचान लिया ॥ ७ ॥

अथ नारदस्य ऐरावतसाम्यमुत्प्रेक्ष्यते—

निसर्ग-चित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना ।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना चारुचमूरुचर्मणा कुथेन इन्द्रवाहनं नागेन्द्रम् इव चकासतम् (अमुं स नारद इत्यबोधि) ।

बालबोधिनी—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा=स्वाभाविकविविधवर्णभास्वराणुलोम्ना । तथा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना=शोभमानमृणालखण्डवद्धवलाङ्गसंसक्तेन । चारुचमूरुचर्मणा=सुन्दरमृगचर्मणा । कुथेन=पृष्ठास्तरणेन । इन्द्रवाहनं=महेन्द्रयानम् । नागेन्द्रं=गजराजम्, ऐरावतमित्यर्थः । इव=यथा ।

चकासतं=शोभमानम्। (अमुं सः=हरिः, क्रमान्नारद इत्यबोधि) अत्रापि वाच्योत्प्रेक्षालङ्कारः।

कोशः—'स्वरूपञ्च स्वभावश्च' इत्यमरः। 'मृणालं बिसम्' इत्यमरः। 'छेदः खण्डोऽस्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डशेषः। 'प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः' इत्यमरः।

समासः—चित्राणि च उज्ज्वलानि च सूक्ष्माणि च चित्रोज्ज्वलसूक्ष्माणि, निसर्गेण चित्रोज्ज्वलसूक्ष्माणि पक्ष्माणि यस्य तत् निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्म, तेन निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा (ब० व्री०)। लसंश्चासौ बिसच्छेदश्च लसद्बिसच्छेदः, स इव सितं लसद्बिसच्छेदसितम्, तच्च तदङ्गञ्च लसद्बिसच्छेदसिताङ्गम्, तस्मिन् सङ्गोऽस्यास्तीति, तेन लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना (कर्मधारयगर्भ ब० व्री०)। चमूरोः चर्म चमूरुचर्म, चारु च तत् चमूरुचर्म च चारुचमूरुचर्म, तेन चारुचमूरुचर्मणा (त० पु०)। नागानाम् इन्द्रो नागेन्द्रः, तं नागेन्द्रम् (त० पु०)। इन्द्रस्य वाहनम् इन्द्रवाहनं तद् इन्द्रवाहनम् (त० पु०)।

व्याकरणम्—चकासतम्—चकासृ+शतृ, जक्षित्यादित्वेन अभ्यस्तत्वात् 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुमभावः। वाहनम्—वह+स्वार्थे णिच् कर्तरि ल्युट्।

हिन्दी—स्वभावतः चितकबरे तथा उज्ज्वल रोम वाले शोभमान कमलनाल के खण्ड के समान शुभ्र वर्ण (तथा अपने) शरीर पर पड़े हुए सुन्दर चमूरु मृग के चर्म से अनेक रङ्गों से चित्रित तथा सूक्ष्म सूत वाले एवं शुभ्र वर्ण वाले (ऐरावत के शरीर पर डाले हुए) झूल से इन्द्रवाहन गजराज ऐरावत के समान शोभित होते हुए नारदजी को श्रीकृष्ण भगवान् ने पहिचान लिया ॥ ८ ॥

पुनः कीदृशमित्याह—

अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया।
पुरः प्रवालैरिव पूरितार्धया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया ॥ ९ ॥

अन्वयः—अजस्रम् आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया पुरः प्रवालैः पूरितार्धया इव अच्छस्फटिकाक्षमालया विभान्तम् (क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः)।

बालबोधिनी—अजस्रम्=अनवरतम्। आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया=ताडितवीणातन्त्रीसङ्घर्षणोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखकिरणमिश्रया।

पुरः = पुरोभागे, अग्रभागे। प्रवालैः=विद्रुमैः। पूरितार्धया=प्रवेशितार्धभागया। इव = यथा (विभाव्यमानया)। अच्छस्फटिकाक्षमालया = स्वच्छस्फटिकमणिनिर्मितजपमालया। विभान्तं = शोभमानम् (अमुं नारद इति सः = हरिः, क्रमादबोधीति पूर्वेणान्वयः)। अत्र 'नखांशुभिन्नया' इति स्वगुणत्यागेनान्यगुणस्वीकारात् तद्‌गुणनामकोऽलङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'तद्‌गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कण्ठगुणग्रहः' इति।

कोशः—'सततानारताश्रान्तसन्तताविरतानिशम्' इत्यमरः। 'किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः। 'अथ विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः। 'अच्छो भल्लूके स्फटिकेऽभिमुखेऽव्ययम्' इति हैमः।

समासः—अङ्गुष्ठस्य नखः अङ्गुष्ठनखः, तस्य अंशवः अङ्गुष्ठनखांशवः। वल्लक्याः गुणाः वल्लकीगुणाः, आस्फालिताश्च ते वल्लकीगुणाश्च आस्फालितवल्लकीगुणाः, तेषां क्षतेन उज्ज्वलाश्च ते अङ्गुष्ठनखांशवश्च आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशवः, तैः भिन्ना, तया आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया (त० पु०)। पूरितम् अर्धं यस्याः सा, तया पूरितार्धया (ब० व्री०)। अच्छाश्च ते स्फटिकाश्च अच्छस्फटिकाः, तेषाम् अक्षमाला, तया अच्छस्फटिकाक्षमालया (त० पु०)।

व्याकरणम्—अजस्रम्—न जस्यति मुञ्चति इति, न + जस् + रः। विभान्तम्—वि + भा + शतृ।

हिन्दी—निरन्तर बजाये गये वीणा के तारों के संघर्षण से उज्ज्वल अँगूठे के नख की किरणों से मिश्रित (अत एव) सामने के आधे भाग में मूँगों से परिपूर्ण-सी, स्वच्छ स्फटिक-मणि की अक्षमाला (जपमाला) से शोभित होते हुए उस पुरुष-विशेष को 'ये नारद हैं' ऐसा श्रीकृष्ण भगवान् ने शनैः-शनैः जाना॥ ९॥

पुनः मुनिं विशिनष्टि—

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः॥ १०॥

अन्वयः—नभस्वतः आघट्टनया पृथक् रणद्भिः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनां महतीं मुहुर्मुहुः अवेक्षमाणम् (क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः)।

बालबोधिनी—नभस्वतः=वायोः, पवनस्य। आघट्टनया=आघातेन। पृथक्=असङ्कीर्णं, विस्पष्टं यथा स्यात्तथा। रणद्भिः=शब्दायमानैः, अनुरणनोत्पद्यमानैरित्यर्थः। विभिन्नश्रुतिमण्डलैः=प्रतिनियतसंख्यया व्यवस्थितस्वरारम्भकशब्दविशेषसमूहैः। स्वरैः=षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादनामकैः 'स–रि–ग–म–प–ध–नि' इत्येवं लोके प्रसिद्धैः सप्तभिः स्वरैः। स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनां=व्यक्तीभवत्स्वरसङ्घातारोहावरोहक्रमभेदाम्। महतीं=महतीनाम्नीं स्ववीणाम्। मुहुर्मुहुः=पुनः पुनः, भृशम्। अवेक्षमाणं=पश्यन्तम्। अमुं सः=हरिः नारद इत्यवोधीति पूर्वेणान्वयः)। अत्र वादनं विनैव स्वराद्याविर्भावोक्त्या कोऽपि लोकाक्रान्तोऽयं शिल्पसौष्ठवातिशयो द्योत्यते तेन सह स्वतः प्रसिद्धातिशयस्याभेदेनाध्यवसितत्वादतिशयोक्त्यलङ्कारः। तया चाङ्गुलिसंयोगरूपकारणं विनैव मूर्च्छनादिकार्योत्पत्तिद्योतनाद् विभावनाऽलङ्कारो व्यज्यते इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः। सम्प्रति स्वरादीनां स्वरूपमुच्यते—'श्रुत्यारब्धमनुरणनं स्वरः' इति। श्रुत्युत्पन्नोऽनुरणनात्मकः कर्णमधुरो ध्वनिविशेषः स्वर इत्युच्यते। यथा रत्नाकरे—

'श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वरः रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते॥' इति॥

स्वरोत्पादकश्शब्दविशेषश्श्रुतिः। यथा रत्नाकरे—

'प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः।
सा श्रुतिः सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा॥' इति॥

सङ्गीतशास्त्रे सप्त स्वराः, त्रयो ग्रामाः, एकविंशतिमूर्च्छनाः, ऊनपञ्चाशच्च तानाः, द्वाविंशतिश्च श्रुतयो भवन्ति। यदुक्तम्—

'सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामाः मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।
ताना एकोनपञ्चाशद् द्व्यधिका विंशतिः श्रुतिः॥' इति॥

सप्तस्वराः षड्जादयः, तदुक्तम्—

'श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते॥
तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः॥' इति॥

स्वरेषु श्रुतिसंख्या नियमश्चाऽयम्—

'चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः।
द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्रिर्ऋषभधैवतौ॥' इति॥

ग्रामस्य लक्षणं तु रत्नाकरे—

'यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि ।
तथा स्वराणां सन्दोहो ग्राम इत्यभिधीयते ॥
षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च ।
गान्धारग्राम इत्येतद् ग्रामत्रयमुदाहृतम् ॥' इति ॥

तथा—'नन्द्यावर्तोऽथ जीमूतः सुभद्रो ग्रामकास्त्रयः ।
षड्जमध्यमगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः ॥' इति ॥

ग्रामत्रयेऽपि प्रत्येकं सप्त सप्त मूर्च्छना इत्येकविंशतिमूर्च्छना भवन्ति । तल्लक्षणं भेदाश्च रत्नाकरे यथा—

'क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।
सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च ॥
अराविनी विश्वभूता चान्द्री हेमा कपर्दिनी ।
मैत्री बार्हस्पता चैतास्त्वेकविंशतिमूर्च्छनाः ॥' इति ॥

श्रुतयः द्वाविंशतिविधाः, तासां नामानि यथा—

'नान्दी चालनिका रसा च सुमुखी चित्रा विचित्रा घना,
मातङ्गी सरसामृता मधुकरी मैत्री शिवा माधवी ।
बाला शार्ङ्गरवी कला कलरवा माला विशाला जया,
मात्रेति श्रुतयः पुराणविद्भिर्द्वाविंशतिः कीर्तिताः ॥'

कोशः—'नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः' इत्यमरः । 'विश्वावसोस्तु बृहती तुम्बुरोस्तु कलावती । महती नारदस्य स्यात् सरस्वत्यास्तु कच्छपी ॥' इति वैजयन्ती ।

समासः—श्रुतीनां मण्डलानि श्रुतिमण्डलानि, विभिन्नानि श्रुतिमण्डलानि येषां तैः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः (त० पु० गर्भ ब० व्री०) । स्फुटीभवन्त्यः ग्रामविशेषाणा मूर्च्छनाः यस्यां सा, तां स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनाम् (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—रणद्भिः—रण् + शतृ । अवेक्षमाणम्—अव + ईक्ष + शानच् । आघट्टनया—आ + घट्ट + स्वार्थे णिच् + युच् । स्फुटीभवत्—स्फुट् + च्वि + भू + शतृ + ङीप् ।

हिन्दी—वायु के आघात से स्पष्ट ध्वनि करते हुए एवं व्यवस्थित स्वर-समूह वाले सात स्वरों से जिसमें (स्वर-संघात रूप षड्जादि) तीन ग्रामों के स्वरों का आरोह तथा अवरोह का क्रम (मूर्च्छना) स्पष्ट (प्रतीत) हो रहा

था, उस महती नाम की (अपनी) वीणा को बार-बार देखते हुए नारदजी को भगवान् श्रीकृष्ण ने पहिचान लिया ।

टिप्पणी—स्वर—श्रुति से उत्पन्न होने वाली अनुरणनात्मक (गूंज-स्वरूप) उस श्रवण-मधुर ध्वनि का नाम स्वर है, जो कि सुनने वाले के हृदय को आनन्दित कर देती है । स्वर सात होते हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद । इन्हीं को संक्षेप में स–रि–ग–म–प–ध–नि–कहा गया है । इनमें श्रुतियों की संख्या का नियम इस प्रकार है—षड्ज, मध्यम तथा पञ्चम में चार-चार, निषाद तथा गान्धार में दो-दो और ऋषभ तथा धैवत में तीन-तीन श्रुतियाँ होती है ।

श्रुति—सर्वप्रथम उच्चरित होने से ह्रस्व मात्रा वाला जो शब्द श्रोता के कानों तक पहुँचता है, वह 'श्रुति' कहलाती है । यह श्रुति ही स्वरों की उत्पादिका है । ये २२ होती हैं । इनके नाम संस्कृत टीका में देखें ।

ग्राम—स्वरों के समूह-विशेष को ग्राम कहते हैं । यह तीन प्रकार का होता है—षड्ज ग्राम, मध्यम ग्राम तथा गान्धार ग्राम । नन्द्यावर्त, जीमूत तथा समुद्र, ये तीन षड्जादि तीन ग्रामों के उत्पादक माने जाते हैं ।

मूर्च्छना—इन सात स्वरों के चढ़ाव एवं उतराव (आरोह-अवरोह) के क्रम को मूर्च्छना या मूर्च्छा कहते हैं । तीनों ग्रामों में अलग-अलग सात-सात मूर्च्छनाएँ होती हैं । इस प्रकार तीनों ग्रामों में मिलाकर २१ मूर्च्छनाएँ होती हैं । प्रत्येक ग्राम में सात मूर्च्छनाओं के नाम ये हैं—अराविनी, विश्वाभृता, चान्द्री, हेमा, कपर्दिनी, मैत्री, वार्हस्पता ।

महती—यह नारद की वीणा का नाम है ॥ १० ॥

नारदस्य द्वारकाप्राप्तिं वर्णयति—

निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानतीनतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभःसदः ।
समासदत् सादितदैत्यसम्पदः पदं महेन्द्रालयचारु चक्रिणः ॥ ११ ॥

अन्वयः—अतीन्द्रियज्ञाननिधिः सः कृतानतीन् अनुव्रजतः नभःसदः निवर्त्य सादितदैत्यसम्पदः चक्रिणः महेन्द्रालयचारु पदं समासदत् ।

बालबोधिनी—अतीन्द्रियज्ञाननिधिः=चक्षुरादीन्द्रियागोचरसर्ववस्तुद्रष्टा, अतीतानागतवेत्ता । सः=ब्रह्मपुत्रो नारदः । कृतानतीन्=कृतप्रणामान् । अनुव्रजतः= अनुगच्छतः, पृष्ठतः समागच्छतः । नभःसदः=देवान् । निवर्त्य=परावर्त्य ।

सादितदैत्यसम्पदः = विध्वस्तीकृतदानवैश्वर्यस्य । चक्रिणः = सुदर्शनचक्रधरस्य श्रीकृष्णस्य । महेन्द्रालयचारु=इन्द्रभवनमनोहरम् । पदं=स्थानम्, वासभवनम् । समासदत् = प्रापत्, समाससाद । अत्र 'नती नती' 'पदः पदमि'ति च द्वयोर्व्यञ्जनयुग्मयोरसकृदावृत्त्या छेकानुप्रासः, तथा पूर्वार्द्धे नकारस्य उत्तरार्धे सकारस्य दकारस्य चासकृदावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासः, अनयोर्नैरपेक्ष्येणावस्थानात् तिलतण्डुलन्यायेन संसृष्टिः । तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इति ।

कोशः—'असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः' इत्यमरः । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । 'चक्री कोके कुलालेऽहौ वैकुण्ठे चक्रवर्तिनि' इति हैमः ।

समासः—इन्द्रियमतिक्रान्ताः (पदार्थाः) अतीन्द्रियाः, तेषां ज्ञानं, तस्य निधिः अतीन्द्रियज्ञाननिधिः (त० पु०) । कृता आनतयो यैस्तान् कृतानतीन् (ब० व्री०) । नभसि सीदन्ति (गच्छन्ति) ये तान् नभःसदः । दैत्यानां सम्पदः दैत्यसम्पदः, सादिता दैत्यसम्पदो येनासौ सादितदैत्यसम्पत्, तस्य सादितदैत्यसम्पदः (ब० व्री०) । महेन्द्रस्य आलयः महेन्द्रालयः, स इव चारु तत् तथाभूतं महेन्द्रालयचारु (त० पु०) ।

व्याकरणम्-- निवर्त्य—नि + वृत् + णिच् + क्त्वा—ल्यप् । अनुव्रजतः—अनु + व्रज + शतृ । कृतानतीन्—कृ + क्त + आ + नम् + क्तिन् । नभःसदः—नभः + सद् + क्विप् 'सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' (३।२।६१) इति क्विप् । समासदत्—सम् + आ + सद् + लुङ्–तिप् 'पुषादि द्युताद्य्लृदितः०' इत्यङ् ।

हिन्दी—अतीन्द्रिय ज्ञान (परोक्ष-ज्ञान) के भण्डार नारदजी अपने पीछे आते हुए (तथा लौटते समय प्रणाम करते हुए) उन देवताओं को लौटाकर (विदा करके) दैत्यों की सम्पत्ति को नष्ट कर देने वाले चक्रधारी श्रीकृष्ण भगवान् के इन्द्र-भवन (स्वर्ग) के समान सुन्दर निवास-स्थान (द्वारिकापुरी) पर पहुँचे ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णविहितं नारदस्वागतमाह—

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत ।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ॥ १२ ॥

अन्वयः–पतत्पतङ्गप्रतिमः तपोनिधिः अस्य पुरः भुवि यावत् न व्यलीयत । तावत् अच्युतः गिरेः तडित्वान् इव उच्चकैः पीठात् जवेन उदतिष्ठत् ।

बालबोधिनी—पतत्पतङ्गप्रतिमः = निष्पतत्सूर्यसदृशः। 'पतन्' इति पाठे मुनिविशेषणमिदम्, तस्य 'आकाशादवतरन्' इत्यर्थः। तपोनिधिः = तपःखनिः, मुनिर्नारदः। अस्य = श्रीकृष्णस्य। पुरः = अग्रे। भुवि = पृथिव्याम्। यावत् = यावत्कालपर्यन्तम्। न व्यलीयत = नातिष्ठत्, नोपाविशत्, नावतीर्ण इति वा। तावत् = तावदेव, मुनिचरणयोर्भूस्पर्शात् प्रागेवेत्यर्थः। अच्युतः = श्रीकृष्णः। गिरेः = पर्वतात्। तडित्वान् = मेघः। इव = यथा। उच्चकैः = समुन्नतात्। पीठात् = आसनात्। जवेन = वेगेन। उदतिष्ठत् = उत्थितवान्, समुत्तस्थौ। 'पतत्पतङ्ग' इत्यत्र पतङ्गस्य पतनाऽसम्भवादियमभूतोपमेति दण्डी। आधुनिकास्तु अप्रसिद्धस्योपमानत्वायोगादुत्प्रेक्षेत्याहुः।

कोशः—'पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च' इत्यमरः। 'धाराधरो जलधरस्तडित्वान्वारिदोऽम्बुभृत्' इत्यमरः। 'पीठमासनम्' इत्यमरः।

समासः—पतंश्चासौ पतङ्गश्चेति पतत्पतङ्गः, स प्रतिमा यस्य सः पतत्पतङ्गप्रतिमः (कर्मधारयगर्भ ब० व्री०)। तपसां निधिः तपोनिधिः (त० पु०)। तडितोऽस्य सन्तीति तडित्वान्।

व्याकरणम्—व्यलीयत–विपूर्वात् 'लीङ् गतौ' इति धातोर्दैवादिकात् कर्तरि लङ्–त। तडित्वान्–तडित् + मतुप् 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (८।२।९) इति मतुपो मकारस्य वकारः। उदतिष्ठत्–उद् + स्था + लङ् + अ + ति।

हिन्दी—आकाश से उतरते हुए सूर्य के समान तपोनिधि नारदजी इन श्रीकृष्ण भगवान् के सामने जब तक पृथिवी पर नहीं उतरे तब तक श्रीकृष्णजी (मुनि का स्वागत करने के लिये) आसन से इस प्रकार उठ बैठे, जैसे बिजली वाला बादल ऊँचे पर्वत से उठता है॥ १२॥

अथ नारदस्य भुवि पादन्यासमाह—

अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैर्धृते कथञ्चित्फणिनां गणैरधः।

न्यधायिषातामभिदेवकीसुतं सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले॥ १३॥

अन्वयः—अथ धातुः सुतेन प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः फणिनां गणैः भुवस्तले अधः कथञ्चित् धृते (सति) अभिदेवकीसुतं चरणौ न्यधायिषाताम्।

बालबोधिनी—अथ = श्रीकृष्णाभ्युत्थानानन्तरम्। धातुः = ब्रह्मणः। सुतेन = पुत्रेण, नारदेन। प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः = प्रयासोपरिकृतभरावनतफणैः। फणिनां = सर्पाणाम्। गणैः = समूहैः। अधः = अधःप्रदेशे, पाताले इत्यर्थः। कथञ्चित् = महता प्रयत्नेन। धृते = ऊढे, उत्तोलिते सति। भुवस्तले = भूतले।

अभिदेवकीसुतं = देवकीसुतमभि लक्ष्यीकृत्य, श्रीकृष्णस्याग्रे इत्यर्थः। चरणौ = पादौ। न्यधायिषाताम् = स्थापितौ, निहितौ। अत्र फणानां नमनोन्नमनासम्बन्धेऽपि मुनिगौरवाय तत्सम्बन्धाभिधानात् सम्बन्धातिशयोक्तिरियम्। तदुक्तं कुवलयानन्दे—'सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम्' इति।

कोशः—'स्फुटायां तु फणा द्वयोः' इत्यमरः। 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः।

समासः—प्रयत्नेन उन्नमिताः प्रयत्नोन्नमिताः, प्रयत्नोन्नमिता अपि आनमन्त्यः फणा येषां तैः प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः (ब० व्री०)। देवक्याः सुतः देवकीसुतः, देवकीसुतस्य अभि इति अभिदेवकीसुतम् (अव्ययीभावः)।

व्याकरणम्—फणिनाम्–फण + इनिः। अभिदेवकीसुतम्–'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' (१।१।१४) इत्यव्ययीभावः, 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' (२।४।८२) इति सुपोऽलुक् विभक्तेश्चामादेशः। न्यधायिषाताम्—निपूर्वाद् दधातेः कर्मणि लुङ् 'स्यसिच्सीयुट्' (६।४।६२) इत्यादिना चिण्वदिटि युक्।

हिन्दी—श्रीकृष्ण भगवान् के अभ्युत्थानादि के बाद ब्रह्मा के पुत्र नारदजी नें प्रयत्नपूर्वक उठाने पर भी अधिक भार होने से नीचे झुकते हुए फणों वाले सर्पों के समूह द्वारा नीचे (पाताललोक मे) ही बड़ी कठिनाई से धारण किये हुए भूमितल पर देवकीसुत श्रीकृष्ण भगवान् के सामने दोनों पैर रखे, अर्थात् भूतल पर खड़े हुए।

टिप्पणी—पाताल में रहने वाले सर्पों की फणाओं पर पृथिवी स्थित है, ऐसा पुराणों में वर्णन है। आकाश से उतरते हुए नारदजी भूमि पर पैर रखने लगे तो पृथिवी का भार इतना बढ़ गया कि नीचे स्थित सर्पों की फणाएँ प्रयत्नपूर्वक ऊपर उठाने पर भी नीचे की ओर झुकती जा रही थीं। इससे नारदजी का गौरवातिशय प्रकट होता है॥ १३॥

श्रीकृष्णकृतं नारदस्य पूजाप्रकारमाह—

तमर्घ्यमर्घ्यादिकयादिपुरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत्।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः॥ १४॥

अन्वयः—आदिपुरुषः सः अर्घ्यं तम् अर्घ्यादिकया सपर्यया साधु पर्यपूपुजत्, मनीषिणः अपुण्यकृतां गृहान् प्रणयात् उपैतुम् अभीप्सवः न भवन्ति।

बालबोधिनी—आदिपुरुषः = पुराणपुरुषः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) इति वा दीर्घः। सः = श्रीकृष्णः। अर्घ्यं = पूज्यम्। तं = नारदम्।

अर्घ्यादिकया=पाद्यार्घ्यादिपूर्विकया। 'अर्घादिकया' इति पाठेऽपि स एवार्थः। सपर्यया=पूजया। साधु=यथाविधि; समुचितं यथा स्यात्तथा। पर्यपूपुजत्=पूजयामास। मनीषिणः=विद्वांसः। अपुण्यकृतां=पुण्यमकृतवताम्, अधन्यानाम्। अभीगृहान्=वेश्मानि। प्रणयात्=स्नेहात्। उपैतुं=प्राप्तुम्, गन्तुमित्यर्थः। अभीप्सवः=अभिलाषुकाः, इच्छवः। न=नैव। भवन्ति=जायन्ते। अत्र पूर्वार्द्धोक्तस्य विशेषस्य उत्तरार्धोक्तेन सामान्येन समर्थनं कृतमिति सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः।

कोशः—'पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चाऽर्हणाः समाः' इत्यमरः। 'गृहं गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयालयाः' इत्यमरः। 'विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः सन् सुधिः कोविदो बुधः। धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः' इत्यमरः। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः।

समासः—आदिश्चासौ पूरुषश्च आदिपुरुषः (क० धा०)। अर्घम् अर्हतीति अर्घ्यः, तम् अर्घ्यम्। अर्घार्थं द्रव्यम् अर्घ्यम्, अर्घ्यमादिर्यस्याः सा, तया अर्घ्यादिकया (ब० व्री०)। ईषन्ते इति ईषिणः, मनसः ईषिणः मनीषिणः (त० पु०)। पुण्यं कृतवन्तः इति पुण्यकृतः, न पुण्यकृतः अपुण्यकृतः, तेषाम् अपुण्यकृताम् (नञ् त० पु०)।

व्याकरणम्—अर्घ्यादिकया—'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति विकल्पेन कप् प्रत्ययः। अर्घ्यम्—अर्घ+यत्। पर्यपूपुजत्—परि+पूज्+णिच्+लुङ्+तिप्। अपुण्यकृताम्—'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' (३।२।८९) इति भूते क्विप्। मनीषिणः–मनस्+ईष्+णिनिः। उपैतिम्–उप+आ+इण्+तुमुन्।

हिन्दी—आदिपुरुष उन श्रीकृष्ण भगवान् ने पूज्य उन नारदजी की अर्घ्यादि पूजा की सामग्री से विधिपूर्वक पूजा की। (श्रीकृष्ण भगवान् के लिये नारदजी की इस प्रकार पूजा करना उचित ही था, क्योंकि) विचारशील महात्मा लोग अपुण्यात्माओं के घर पर प्रेम से जाने के लिए इच्छुक नहीं होते हैं, अर्थात् पुण्यशील व्यक्तियों के घर पर ही प्रेम से जाते हैं॥ १४॥

श्रीकृष्णस्य नीलगिरिसाम्यं नारदस्य च हिमालयसाम्यमाह—

न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ जनस्तुषाराञ्जनपर्वताविव।
स्वहस्तदत्ते मुनिमासने मुनिश्चिरन्तनस्तावदभिन्यवीविशत्॥ १५॥

अन्वयः—जनः उत्थितौ एतौ तुषाराञ्जनपर्वतौ इव यावत् न उदपश्यत्, तावत् चिरन्तनः मुनिः स्वहस्तदत्ते आसने मुनिम् अभिन्यवीविशत्।

बालबोधिनी—जनः=द्वारकानिवासिलोकः। उत्थितौ=उत्तिष्ठमानौ। एतौ=नारदश्रीकृष्णौ। तुषाराञ्जनपर्वतौ=हिमकज्जलशैलौ। इव=यथा। 'पर्वताविव' इत्यस्य स्थाने 'पर्वताकृती' इति पाठे पर्वतवर्णाविवेत्यर्थः। यावत्=यावत्कालम्। न उदपश्यत्=नोत्प्रेक्षितवान्, न दृष्टवान्। तावत्=तावदेव। चिरन्तनः=पुराणः। मुनिः=श्रीकृष्णः। 'पुरा किल भगवान् बदरिकारण्ये नारायणावतारेण तपसि स्थितवान्' इति पुराणात्। स्वहस्तदत्ते=स्वकरसमर्पिते। आसने=विष्टरे। मुनिं=नारदम्। अभिन्यवीविशत्=स्वसम्मुखमुपवेशितवान्। अत्र नारदः श्वैत्यात् हिमालयसदृशः, श्रीकृष्णश्च श्यामतयाऽञ्जनशैलोपम इत्यवधेयम्। 'तुषाराञ्जनपर्वताविव' इत्यत्रोपमालङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः' इति।

कोशः—'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः। 'विष्टरं पीठमासनम्' इत्यमरः।

समासः—तुषारश्च अञ्जनं च तुषाराञ्जने, तयोः पर्वतौ, तौ तुषाराञ्जनपर्वतौ (त० पु०)। स्वस्य हस्तौ स्वहस्तौ, ताभ्यां दत्तं स्वहस्तदत्तम्, तस्मिन् स्वहस्तदत्ते (त० पु०)।

व्याकरणम्—उदपश्यत्—उद्+दृश्+लङ्—तिप्। उत्थितौ—उद्+स्था+क्तः। आस्यते अस्मिन् इति विग्रहे—आस्+अधिकरणे ल्युट्। चिरन्तनः—चिरं भवः इति विग्रहे—चिरम्+ट्यु तुडागमश्च। अभिन्यवीविशत्—अभि+नि+विश्+णिच्+लुङ्, 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०' (३।१।४८) इति चङि।

हिन्दी—(वहाँ पर उपस्थित) लोग हिमालय तथा नीलगिरि के समान खड़े हुए इन नारद और श्रीकृष्ण भगवान् को जब तक देख भी नहीं पाये थे कि तब तक प्राचीन मुनि श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने हाथ से दिये हुए आसन पर मुनि नारदजी को बैठा दिया।

टिप्पणी—**प्राचीन मुनि**—पुराणों में प्रसिद्ध है कि भगवान् ने नारायण रूप से बहुत काल तक बदरिका-आश्रम में तप किया। वे ही दूसरे जन्म में श्रीकृष्ण हुए। इसी से पूर्व जन्म के आधार पर भगवान् को चिरन्तन मुनि कहा है॥ १५॥

श्रीकृष्णस्य पुरो नारदस्य चन्द्रसाम्यमाह—

महामहानीलशिलारुचः पुरो निषेदिवान् कंसकृषः स विष्टरे।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकैरचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम्॥ १६॥

अन्वयः—महामहानीलशिलारुचः कंसकृषः पुरः उच्चकैः विष्टरे निषेदिवान्, सः अभिसायं श्रितोदयाद्रेः चन्द्रमसः अभिरामताम् अचूचुरत् ।

बालबोधिनी—महामहानीलशिलारुचः=बृहदिन्द्रनीलमणिकान्तेः, 'सिंहलद्वीपोत्पन्ननीलोपलप्रभस्येति यावत् । तथाह भगवान् अगस्त्यः—'सिंहलस्थाकरोद्भूता महानीलस्तु ते स्मृताः' इति । कंसकृषः=कंसारेः श्रीकृष्णस्य । पुरः=अग्रे । उच्चकैः=उन्नते । विष्टरे=आसने । निषेदिवान्=उपविष्टवान्, निषण्णः । सः=नारदः । अभिसायं=सायङ्कालाभिमुखम्, सायङ्काले । श्रितोदयाद्रेः=प्राप्तोदयाचलस्य । चन्द्रमसः=चन्द्रस्य । अभिरामतां=शोभाम्, रमणीयताम् । अचूचुरत्=चोरितवान्, प्राप्तवान्, अनुचकारेति वा । 'महामहानीलशिलारुचः' इत्यत्रोपमालङ्कारः । 'अचूचुरत् चन्द्रमसोऽभिरामताम्' इत्यत्र चान्यस्यान्यधर्मसम्बन्धासम्भवाच्चन्द्रमसोऽभिरामतामिवाभिरामतामित्यौपम्यपर्यवसानादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनालङ्कारः । उपमा चात्र प्रधानमित्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

कोशः—'स्युः प्रभा रुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । 'विष्टरः पीठमस्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डशेषः । 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः' इत्यमरः ।

समासः—महानीलस्य शिला महानीलशिला, महती चाऽसौ महानीलशिला च महामहानीलशिला, तस्याः रुगिव रुक् यस्य, तस्य महामहानीलशिलारुचः (कर्मधारयगर्भबहुव्रीहिः) । कंसं कृष्टवान् इति, तस्य कंसकृषः (त० पु०) । श्रितः उदयाद्रिः येन सः, तस्य श्रितोदयाद्रेः (ब० व्री०) । सायम् अभिलक्ष्यीकृत्येति अभिसायम् (अव्ययीभावः) । अभि=समन्तात्, रमन्ते जनाः यस्मिन्निति अभिरामः, तस्य भावः अभिरामता, ताम् अभिरामताम् ।

व्याकरणम्—निषेदिवान्—नि+सद्+क्वसु । विष्टरम्—वि+स्तृ+अप् 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम् । अचूचुरत्—चुर्+णिच्+लुङ्+तिप् 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०' (३।१।४८) इति च्लेश्चङ् । अभिरामताम्—अभि+रम्+तल् ।

हिन्दी—विशाल नीलमणि (पन्ना) के समान कान्ति वाले (श्याम वर्ण), कंस को मारने वाले श्रीकृष्णजी के सम्मुख ऊँचे आसन पर बैठे हुए उन नारदजी ने सायंकाल में उदयाचल पर स्थित चन्द्रमा की शोभा को चुरा दिया अर्थात् चन्द्रमा की शोभा को धारण किया ॥ १६ ॥

श्रीकृष्णस्य प्रसन्नतामाह—

विधाय तस्यापचितिं प्रसेदुषः प्रकाममप्रीयत यज्वनां प्रियः ।
ग्रहीतुमार्यान् परिचर्यया मुहुर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः ॥ १७ ॥

अन्वयः—यज्वनां प्रियः (सः) प्रसेदुषः अपचितिं विधाय, प्रकामम् अप्रीयत। हि महानुभावाः आर्यान् परिचर्यया मुहुः ग्रहीतुं नितान्तम् अर्थिनः (भवन्ति)।

बालबोधिनी—यज्वनां=विधिनेष्टवताम्, यायजूकानाम्। प्रियः=अभीष्टः। (सः=श्रीकृष्णः) प्रसेदुषः=प्रसन्नस्य, तस्य=नारदस्य, अपचितिं=पूजाम्। विधाय=कृत्वा। प्रकामं=अत्यर्थम्, नितराम्। अप्रीयत=प्रीतोऽभवत्, तुतोष। हि=यतः। महानुभावाः=महाप्रभावाः महात्मानः। आर्यान्=पूज्यान्, साधून्। परिचर्यया=सेवया, शुश्रूषया। मुहुः=वारं वारम्, भृशम्। ग्रहीतुं=वशीकर्तुम्, अनुकूलयितुम्। नितान्तं=नितराम्, अत्यर्थम्। अर्थिनः=अभिलाषुकाः, इच्छवः। (भवन्ति=जायन्ते)। अत्र पूर्वार्धोक्तस्य विशेषार्थस्य उत्तरार्धोक्तेन सामान्यार्थेन समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। तदुक्तं चन्द्रालोके—'भवेदर्थान्तरन्यासोऽनुपक्तार्थान्तराभिधा' इति।

कोशः—'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः। 'परिचर्या तु शुश्रूषा' इत्यमरः। 'अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चये' इत्यमरः।

समासः—विधिनेष्टवन्त इति यज्वानः, तेषां यज्वनाम्। महान् अनुभावः येषां ते महानुभावाः (ब० व्री०)। अर्थनम् अर्थः, अर्थ एषामस्तीति अर्थिनः।

व्याकरणम्—विधाय—वि + धा + क्त्वा—ल्यप्। अपचितिम्—अप् + चि + क्तिन्। यज्वनाम्—यजिधातोः 'सुयजोर्ङ्वनिप् (३।२।१०३) इति ङ्वनिप्। अप्रीयत—प्री + लङ् + त। ग्रहीतुम्—ग्रह + तुमुन् 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (७।२।३७) इति दीर्घः। प्रसेदुषः—प्र + सद + क्वसुः।

हिन्दी—विधिपूर्वक यज्ञ करने वालों के प्रिय श्रीकृष्ण भगवान् प्रसन्नचित्त उन नारदजी की पूजा करके अत्यन्त हर्षित हुए। क्योंकि महाप्रभावशाली लोग श्रेष्ठ जनों की सेवा के द्वारा बार-बार वश में करने के लिए नितान्त इच्छुक होते हैं ॥ १७ ॥

नारदाभिषिक्तं जलं श्रीकृष्णो जग्राहेत्याह—

अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोर्निधाय पाणावृषिणाऽभ्युदीरिताः।
अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीर्नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः ॥ १८ ॥

अन्वयः—अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोः पाणौ निधाय ऋषिणा अभ्युदीरिताः अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीः अपः हरिः नतेन मूर्ध्ना अग्रहीत्।

बालबोधिनी—अशेषतीर्थोपहृताः=सकलतीर्थानीताः। कमण्डलोः=कमण्डलुतः, जलपात्रात् उद्धृत्येति शेषः। पाणौ=स्वहस्ते। निधाय=स्थापयित्वा,

गृहीत्वा । ऋषिणा = नारदेन । अभ्युदीरिताः = अभिषिक्ताः, आक्षिप्ताः । अघौघविध्वंसविधौ = पापसमूहविनाशकरणे । पटीयसीः = समर्थतराः, नितरां समर्थाः । अपः = जलानि । हरिः = श्रीकृष्णः । नतेन = नम्रेण । मूर्ध्ना = मस्तकेन, शिरसा । अग्रहीत् = जग्राह, स्वीकृतवान् ।

कोशः—'अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी' इत्यमरः । 'कलुषं वृजिनैनोऽघमंहोदुरितदुष्कृतम्' इत्यमरः । 'विधिर्विधाने दैवे च' इति हैमः । 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्ध्ना ना मस्तकोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्' इत्यमरः ।

समासः—अशेषाणि च तानि तीर्थानि च अशेषतीर्थानि, तेभ्यः उपहृताः, ताः अशेषतीर्थोपहृताः (त० पु०) । अघानाम् ओघः अघौघः, तस्य यो विध्वंसः अघौघविध्वंसः, तस्य विधिः अघौघविध्वंसविधिः, तस्मिन् अघौघविध्वंसविधौ (त० पुं०) । अतिशयेन पट्व्यः, ताः पटीयसीः ।

व्याकरणम्—अभ्युदीरिताः—अभि + उद् + ईर् + स्वार्थे णिच् + क्तः । पटीयसीः—पटुः + ईयसुन् + 'उगितश्च' (४।५।६) इति ङीप् । अग्रहीत्—ग्रह + लुङ् + तिप् ।

हिन्दी—समस्त तीर्थों से लाये गये तथा कमण्डलु से निकाल कर हाथ पर रखकर नारदजी के द्वारा छिड़के गये पाप-समूहों को नष्ट करने में अत्यन्त समर्थ जलों को श्रीकृष्ण भगवान् ने नतमस्तक से ग्रहण किया ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णाधिष्ठितासनस्य शोभामाह—

स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया नवाम्बुदश्यामवपुर्न्यविक्षत ।
जिगाय जम्बूजनितश्रियः श्रियं सुमेरुशृङ्गस्य तदा तदासनम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—नवाम्बुदश्यामतनुः स मुनेः अनुज्ञया काञ्चने यत्र (आसने) न्यविक्षत । तत् आसनं तदा जम्बूजनितश्रियः सुमेरुशृङ्गस्य श्रियं जिगाय ।

बालबोधिनी—नवाम्बुदश्यामतनुः = नवीनजलधरश्यामशरीरः, नीलमेघसदृशकृष्णवपुः । सः = श्रीकृष्णः । मुनेः = नारदस्य । अनुज्ञया = आज्ञया, आदेशेन । काञ्चने = हिरण्मये सौवर्णे । यत्र = यस्मिन्नासने । न्यविक्षत = उपाविशत्, उपविष्टः । तदासनं = तत्काञ्चनं सिंहासनम् । तदा = तस्मिन् समये, श्रीकृष्णोपवेशनकाले । जम्बूजनितश्रियः = दिव्यजम्बूमहाफलाऽऽहितशोभस्य जम्बूवृक्षसमुत्पादितशोभस्येति वा । 'जम्बूः सुरभिपत्रा च राजजम्बूर्महाफला' इत्यमरः । सुमेरुशृङ्गस्य = हेमाद्रिशिखरस्य । श्रियं = शोभाम् । जिगाय = तिरश्चकार, अनुचकार, आददे । अत्र पूर्वार्द्धे नकारस्य तृतीयपादे च जकारस्यासकृदावृत्त्या

तथोत्तरार्द्धे 'श्रियः श्रियम्' इति 'तदा तदा' इति च स्वरव्यञ्जनसमुदायस्य साम्यादनुप्रासः । किं च श्रीकृष्णस्य जम्बूवृक्षेण सह काञ्चनासनस्य च सुमेरुशृङ्गेण समं साम्यं प्रदर्शितमित्युपमालङ्कारः । उपमानुप्रासयोश्च नैरपेक्ष्येणावस्थानात् तिलतण्डुलन्यायात्संसृष्टिः ।

कोशः–'प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः' इत्यमरः । 'मेरुः सुमेरु र्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः' इत्यमरः । 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः ।

समासः—नवश्चासौ अम्बुदश्च नवाम्बुदः, स इव श्यामा तनुर्यस्य स नवाम्बुदश्यामतनुः (कर्मधारयगर्भ ब० व्री०) । जम्ब्वा जम्बूभिर्वा जनिता श्रीर्यस्य तत् जम्बूजनितश्रियः, तस्य जम्बूजनितश्रियः (ब० व्री०) । सुमेरोः शृङ्गमिति सुमेरुशृङ्गम्, तस्य सुमेरुशृङ्गस्य (त० पु०) ।

व्याकरणम्—अनुज्ञा—अनु + ज्ञा + अङ् । न्यविक्षत–निपूर्वाद् विश्धातोर्लुङि 'नेर्विशः' (१।३।१७) इत्यात्मनेपदे, 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (३।१।४५) इति च्लेः क्सः । जिगाय—जि + लिट् + तिप् + णल् 'सन्लिटोर्जेः' (७।३।५७) इति कुत्वम् ।

हिन्दी--नवीन मेघ के समान श्यामल शरीरवाले वे श्रीकृष्णजी मुनि नारद के आदेश से सुवर्ण के जिस सिंहासन (आसन) पर बैठे उस आसन ने उस समय जामुन के वृक्ष से शोभायमान सुमेरुपर्वत के शिखर की शोभा को जीत लिया ।। १९ ।।

श्रीकृष्णस्य समुद्रसादृश्यमाह—

स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः ।
विदिद्युते वाडवजातवेदसः शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः ॥ २० ॥

अन्वयः—तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः, सः वाडवजातवेदसः शिखाभिः आश्लिष्टः अम्भसां निधिः इव विदिद्युते ।

बालबोधिनी–तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः=पुटपाकशोधितसुवर्णदीप्यमानवस्त्रः, सुतप्तकनकवदुज्ज्वलवसनः, पीताम्बर इत्यर्थः । कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः= पूर्णचन्द्रचिह्नद्युतिः । सः=श्रीकृष्णः । वाडवजातवेदसः=वाडवाग्नेः । शिखाभिः =ज्वालाभिः । आश्लिष्टः=व्याप्तः । अम्भसां निधिः=जलनिधिः, समुद्रः । इव=यथा । विदिद्युते=बभौ, शुशुभे । अत्र तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरस्य जातवेदसः शिखाभिः सह तथा श्रीकृष्णस्य अम्भसां निधिना सह साम्यं प्रदर्शितमित्युपमालङ्कारः ।

कोशः—'चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने । रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम् ॥' इत्यमरः । 'कठोरौ पूर्णकठिनौ' इत्यमरः । 'कलङ्काङ्कं

29203

लाञ्छनं च चिह्न लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः। 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलावर्चिर्हेतिः शिखा स्त्रियाम्' इत्यमरः।

समासः—तप्तं च तत् कार्तस्वरं तप्तकार्तस्वरम्, तप्तकार्तस्वरमिव भास्वरम् अम्बरं यस्य सः तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः (कर्मधारयगर्भबहुव्रीहिः)। कठोरश्चासौ ताराधिपश्च कठोरताराधिपः, तस्य लाञ्छनं कठोरताराधिपलाञ्छनम्, तस्य छविरिव छविर्यस्यासौ कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः। (कर्म० गर्भ० ब० व्री०)। वाडवायां घोटिकायां भवो वाडवः, वाडवश्चासौ जातवेदाश्च वाडवजातवेदाः, तस्य वाडवजातवेदसः (कर्मधारयः)। जाते जाते विद्यते इति जातवेदाः=यः सर्वेषु पदार्थेषु तिष्ठतीति भावः।

व्याकरणम्—विदिद्युते—वि+द्युत्+लिट्—त–ए, 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' (७।४।६७) इति सम्प्रसारणम्। आश्लिष्टः—आ+श्लिष्+क्तः।

हिन्दी—तपाये हुए सुवर्ण के समान दीप्यमान (पीले) वस्त्रवाले तथा स्वयं पूर्णचन्द्र के कलङ्क के समान (श्याम) कान्तिवाले श्रीकृष्ण भगवान् वाडवानल की लपटों से व्याप्त समुद्र के समान शोभित हुए।

टिप्पणी—कार्त्तस्वर—कार्तस्वर शब्द की व्युत्पत्ति अमरकोश के टीकाकार भानुजी दीक्षित ने इस प्रकार की है—(१) कृतस्वरे आकारविशेषे भवम् 'तत्र भवः' (४।३।५३) इत्यण्। अथवा—कृताः=पठिताः, स्वराः=वेदाः, येन सः कृतस्वरः=विद्वान्, तस्मै देयम् 'शेषे' (४।२।९१) इत्यण्। **कठोरताराधिप**—पूर्ण चन्द्रमा, कठोर का अर्थ पूर्ण भी है। तारा अश्विनी आदि २७ नक्षत्रों का नाम है, जो दक्ष की कन्या कही गई हैं और पुराणों के अनुसार चन्द्रमा को व्याही गई हैं। इसीलिये चन्द्रमा का नाम ताराधिप है। **वाडवाग्नि**—समुद्र में रहने वाले अग्नि को वाडवाग्नि कहते हैं। कहते हैं, हैहय वंश के क्षत्रियों के भय से एक गर्भवती भृगु की पत्नी का गर्भ स्खलित हो गया। इससे क्रुद्ध हुए भृगु के तेज से वे अन्धे हो गये। इसके बाद बड़े अनुनय-विनय से उन्होंने ऋषि को मनाया। उनकी प्रार्थना से प्रसन्न हुए ऋषि ने अपनी उस क्रोध की अग्नि को समुद्र में फेंक दिया, जो घोड़े की गर्दन बनकर समुद्र में रहता है। देखिए—

'ततस्तं क्रोधजं तात और्वोऽग्निं वरुणालये।
उत्ससर्ज स चैवायमुपयुङ्क्ते महोदधौ॥
महद् हयशिरो भूत्वा यत्तद्वेदविदो विदुः॥' (महाभारत) ॥२०॥

नारदतेजांसि चन्द्रकिरणैरुत्प्रेक्ष्यते—

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषामृषित्विषः संवलिता विरेजिरे ।
चलत्पलाशान्तरगोचरास्तरोस्तुषारमूर्तेरिव नक्तमंशवः ॥ २१ ॥

अन्वयः—रथाङ्गपाणेः रोचिषां पटलेन संवलिताः ऋषित्विषः नक्तं तरोः चलत्पलाशान्तरगोचराः तुषारमूर्तेः अंशवः इव विरेजिरे ।

बालबोधिनी—रथाङ्गपाणेः=चक्रपाणेः, श्रीकृष्णस्य । रोचिषां=तेजसाम् । पटलेन=समूहेन । संवलिताः=मिलिताः, मिश्रिताः, संयुक्ताः । ऋषित्विषः= मुनितेजांसि, नारदकान्तयः । नक्तं=रात्रौ, सप्तम्यर्थेऽव्ययमिदम् । तरोः= वृक्षस्य । चलत्पलाशान्तरगोचराः= चञ्चलतरुपत्रविवराश्रयाः, वायुकम्पिततरु-पर्णमध्यप्रविष्टा इत्यर्थः । तुषारमूर्तेः=शीतांशोश्चन्द्रस्य । अंशवः=किरणाः, इवेत्युत्प्रेक्षायाम् । विरेजिरे=शुशुभिरे, बभुः । अत्र रथाङ्गपाणिरोचिःपटल-संवलितर्षित्विषां चञ्चलतरुपलाशान्तरगोचरतुषारमूर्तिकिरणैरुत्प्रेक्षणं कृतमित्यु-त्प्रेक्षालङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' इति ।

कोशः—'रोचिः शोचिरुभे क्लीबे प्रकाशो द्योत आतपः' इत्यमरः । 'पत्रं पलाशं छदनम्' इत्यमरः । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदसादृश्ये' इत्य-मरः । 'किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः । 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः' इत्यमरः ।

समासः—रथस्य अङ्गं रथाङ्गम्, रथाङ्गं पाणौ यस्य सः, तस्य रथाङ्ग-पाणेः (त० पु० गर्भ ब० व्री०) । ऋषेः त्विषः ऋषित्विषः (त० पु०) । चलन्ति च तानि पलाशानि च चलत्पलाशानि, तेषाम् अन्तराणि चलत्पलाशा-न्तराणि, तान्येव गोचरः (आश्रयः) येषां ते चलत्पलाशान्तरगोचराः (कर्म० गर्भ ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—रथाङ्गपाणेः—'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' इति वार्तिकेन पाणेः परनिपातः । संवलिताः–सम्+वल्+क्तः इडागमः । विरेजिरे —वि+राज्+लिट्+झ+इरेच् ।

हिन्दी—सुदर्शन चक्र को हाथ में धारण करने वाले श्रीकृष्ण भगवान् की (श्याम वर्ण) कान्ति-समूह से मिश्रित ऋषि नारदजी का (शुभ्र वर्ण) तेज रात्रि में वृक्ष के हिलते हुए पत्तों के बीच से आती हुई चन्द्रमा की किरणों के समान शोभित हुआ ।

टिप्पणी—'गोचर' शब्द का अर्थ है—आश्रय। **गावः**—'इन्द्रियाणि चरन्ति अस्मिन्निति गोचरः' अर्थात् जो इन्द्रियों का विषय हो ॥ २१ ॥

श्रीकृष्णनारदयोरेकवर्णतामाह—

प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः।
परस्परेण च्छुरितामलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः ॥ २२ ॥

अन्वयः—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः शुभैः अभीषुभिः परस्परेण छुरितामलच्छवी तौ तदा एकवर्णौ इव बभूवतुः।

बालबोधिनी—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः = विकसिततमालपुष्पसदृशैः, विकचतमालपुष्पनीलैरिति यावत्, सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः=सप्तपर्णवृक्षपुष्पपरागधवलैः। शुभैः=मनोहरैः, पापक्षयकरैर्वा। अभीषुभिः=रश्मिभिः, देहतेजोभिः। परस्परेण=अन्योऽन्यम्। छुरितामलच्छवी=मिश्रितोज्ज्वलकान्ती, व्यतिषक्तनिर्मलप्रभौ। तौ=श्रीकृष्णनारदौ। तदा=तस्मिन् काले। एकवर्णौ=तुल्यवर्णौ, समानरूपौ। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। बभूवतुः=अभूताम्। उभयच्छविमेलनादुभयोरपि सर्वाङ्गीणे गङ्गायमुनासङ्गम इव स्फटिकेन्द्रनीलमणिप्रभामेलनप्रायोऽवर्णनीय कश्चित् समानवर्णः सञ्जातः। उभयवर्णमेलनादेकस्य कस्यचिदनिर्वचनीयस्य वर्णस्य प्रतीतेः सम्भावनादुत्प्रेक्षालङ्कारः।

कोशः—'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि नपुंसके' इत्यमरः। 'निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः। 'सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विमलच्छदः' इत्यमरः। 'अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ' इति शाश्वतः।

समासः—तापिच्छस्य पुष्पं तापिच्छम्, प्रफुल्लतीति प्रफुल्लम्, प्रफुल्लं च तत् तापिच्छं च प्रफुल्लतापिच्छम्, तेन सदृशैः प्रफुल्लतापिच्छनिभैः (कर्म०), नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः। अत एव 'स्युरुत्तरपदे त्वमी' इति। सप्तच्छदाः पर्णानि पर्वसु यस्य (वृन्ते वृन्ते सप्त छदाः यस्य) स सप्तच्छदः, तस्य विकारः (पुष्पम्) सप्तच्छदम्, तानि सप्तच्छदानि, सप्तच्छदानां पांसवः सप्तच्छदपांसवः; ते इव पाण्डवस्तैः सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः (ब० व्री० गर्भ० तत्पु०)। छुरिते अमले छवी ययोस्तौ छुरितामलच्छवी (ब० व्री०)। एको वर्णो ययोस्तौ एकवर्णौ (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—प्रफुल्ल—प्र+फुल्ल+अच्। बभूवतुः—भू+लिट्+तस्+अतुस्।

हिन्दी—खिले हुए तमाल (आबनूस) के समान (श्यामल) तथा सप्तच्छद (छितवन) के पुष्प के पराग के समान शुभ्र तथा मनोहर किरणों से

परस्पर मिश्रित कान्ति वाले वे दोनों (श्रीकृष्ण भगवान् और नारदजी) उस समय मानो एक रङ्ग के हो गये ।। २२ ।।

श्रीकृष्णस्य नारदशुभागमनजन्यं हर्षमाह—

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ।। २३ ।।

अन्वयः—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः कैटभद्विषः यस्यां तनौ जगन्ति सविकासम् आसत । तत्र तपोधनाभ्यागमसम्भवाः मुदः न ममुः ।

बालबोधिनी—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः—प्रलयसमयोपसंहृतजीवस्य, कल्पक्षयकुक्षिस्थापितचराचरस्य । कैटभद्विषः=कैटभारेः । यस्यां तनौ=यस्मिन् शरीरे । जगन्ति=भुवनानि, लोकाः । सविकासम्=सविस्तरम्, असम्बाधम्, यथासुखम् । आसत=उषितानि, अतिष्ठन् । तत्र=तस्याम् । तनौ=देहे । तपोधनाभ्यागमसम्भवाः=तपस्विश्रेष्ठनारदागमनप्रभवाः । मुदः=प्रीतयः, प्रमोदाः, हर्षाः । न ममुः=न मान्तिस्म । अतिरिच्यन्ते इत्यर्थः । अत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः । यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते' इति ।

कोशः—'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः । 'मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसम्मदाः' इत्यमरः ।

समासः—युगानाम् अन्तः युगान्तः, युगान्तस्य कालः इति युगान्तकालः, तस्मिन् प्रतिसंहृता आत्मनो येनाऽसौ, तस्य युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः (त० पु० गर्भ व० व्री०) । तप एव धनं यस्यासौ तपोधनः, तस्य अभ्यागमः तपोधनाभ्यागमः, तस्मात् तेन वा सम्भवन्तीति तपोधनाभ्यागमसम्भवाः (ब० व्री० गर्भ त० पु०) । कैटभं द्वेष्टि यः सः, तस्य कैटभद्विषः ।

व्याकरणम्—विकास—वि+कस्+घञ् । आसत—आस्+लङ्+झ+अत । ममुः—मा+लिट्+झि+उस् ।

हिन्दी—युगों की समाप्ति के समय (प्रलयकाल) में (समस्त) जीवों को अन्तर्भूत कर लेने वाले कैटभ नामक राक्षस के शत्रु श्रीकृष्ण भगवान् के जिस शरीर में चौदहों भुवन विस्तार के साथ रहते थे, उसी श्रीकृष्ण भगवान् के शरीर में तपस्वि-श्रेष्ठ नारद के आगमन से उत्पन्न आनन्द न समा सका ।

टिप्पणी—श्रीकृष्ण भगवान् (विष्णुजी) प्रलयकाल में समस्त प्राणियों का संहार करने के बाद उन सबको अपनी कुक्षि में स्थापित करके क्षीरसागर

में सो जाते हैं। ऐसा पुराणों में वर्णन है। गीता नवें अध्याय के सातवें श्लोक में भी कहा है—

'सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥' गीता ९।७ इति।

कैटभ राक्षस के विषय में पौराणिक कथा इस प्रकार है—एक बार विष्णु भगवान् के कान में मैल से मधु तथा कैटभ नाम के दो राक्षस उत्पन्न हुए। अपने बल के मद से चूर हुए उन दोनों ने विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल में रहने वाले ब्रह्मा को मारने की धमकी दी। उनके डर से भयभीत हुए ब्रह्मा ने क्षीर-सागर में सोये हुए विष्णु भगवान् को जगाया। तब विष्णु भगवान् ने उन दोनों के साथ पाँच हजार वर्ष तक युद्ध करने के बाद अपने सुदर्शन चक्र से उन दोनों राक्षसों की गर्दनें काटकर मार डाला। उस मधु तथा कैटभ की मेदा से पृथिवी बनी। इसीलिये पृथिवी का नाम मेदिनी पड़ा ॥ २३ ॥

श्रीकृष्णस्य पुण्डरीकाक्षसंज्ञाया सार्थकतामाह—

निदाघधामानमिवाधिदीधितिं मुदा विकासं मुनिमभ्युपेयुषी।
विलोचने बिभ्रदधिश्रितश्रिणी स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत् ॥ २४ ॥

अन्वयः—निदाघधामानम् इव अधिदीधितिं मुनिम् अभि मुदा विकासम् उपेयुषी अधिश्रितश्रिणी विलोचने बिभ्रत् सः पुण्डरीकाक्षः इति स्फुटः अभवत्।

बालबोधिनी—निदाघधामानम् = उष्णकिरणम्, सूर्यम्। इव = यथा। अधिदीधितिम् = अधिकतेजसम्, प्रचण्डमहसम्। मुनिं = नारदम्। अभि = लक्ष्यीकृत्य। मुदा = हर्षेण। विकासं = विकचत्वम्, विस्तारम्। उपेयुषी = प्राप्तवती, प्राप्ते। अधिश्रितश्रिणी = प्राप्तशोभे। विलोचने = नेत्रे। बिभ्रत् = दधानः। सः = श्रीकृष्णः। पुण्डरीकाक्षः = पुण्डरीकाक्षनामा, पुण्डरीकाक्षाभिधानः। स्फुटः = प्रकटः, स्पष्टम्। अभवत् = बभूव। 'बिभ्रत्' इत्ययमर्थः, 'पुण्डरीकाक्षोऽभवत्' इत्यस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। स च 'निदाघधामानमिव' इत्युपमाश्रितोऽत एवोभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

कोशः—'निदाघ उष्णोपगम उष्ण ऊष्मागमः तपः' इत्यमरः। 'निदाघो ग्रीष्मकाले स्यादुष्णस्वेदाम्बुनोरपि' इति विश्वः। 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हैमः।

समासः—नितरां दह्यते अनेनेति निदाघम्, निदाघं (उष्णम्) धाम (रश्मिः) यस्यासौ निदाघधामा, तम् निदाघधामानम् (ब० व्री०)। अधि

अधिका दीधितिर्यस्य सः, तम् अधिदीधितिम् (ब० व्री०)। अधिश्रिता श्रीः याभ्यां ते अधिश्रितश्रिणी (ब० व्री०)। पुण्डरीके इव अक्षिणी यस्यासौ पुण्डरीकाक्षः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—निदाघम्–नि+दह्+घञ्। विकासम्=वि+कस्+घञ्। उपेयुषी—उप्+इण्+लिट्+लिटः स्थाने क्वसु-प्रत्ययः। बिभ्रत्—भृञ्+कर्तरि शतृ।

हिन्दी—सूर्य के समान परमतेजस्वी मुनि नारदजी को लक्ष्य करके हर्ष से विकसित, शोभायमान नेत्रों को धारण करते हुए श्रीकृष्णजी 'पुण्डरीकाक्ष' इस सार्थक नाम वाले स्पष्ट रूप से हो गये।

टिप्पणी—एक वार शिवजी के ऊपर एक सहस्र कमल चढ़ाते समय एक कमल कम पड़ गया तो विष्णु भगवान् ने अपना नेत्र ही कमल के स्थान पर अर्पण कर दिया। तभी से विष्णु का नाम 'पुण्डरीकाक्ष' अर्थात् कमल-नयन पड़ गया॥ २४॥

अथ श्रीकृष्णो नारदमवोचदित्याह—

सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः॥ २५॥

अन्वयः—अथ अच्युतः विसारिभिः द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः सितं मुनेः वपुः सौधमिव सुतरां सितिम्ना लम्भयन् शुचिस्मितां वाचम् अवोचत्।

बालबोधिनी—अथ=नारदश्रीकृष्णयोरुपवेशनानन्तरम्। अच्युतः=श्रीकृष्णः। विसारिभिः=प्रसरणशीलैः। द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः=दन्तपङ्क्तिछद्मचन्द्रमयूखैः, दन्तसमूहकपटचन्द्रकिरणैः। क्वचिद् 'द्विजावली' इति दीर्घेकारान्तपाठोऽपि दृश्यते। सितं=शुभ्रम्, स्वभावशुक्लम्। मुनेः=नारदस्य। वपुः=शरीरम्। सौधम्=राजसदनम्। इव=यथा। सुतरां=अत्यन्तम्, नितराम्। सितिम्ना=शौक्ल्येन, शुभ्रत्वेन। लम्भयन्=प्रापयन्। शुचिस्मितां=ईषद्धास्ययुक्ताम्। वाचं=वाणीम्। अवोचत्=उवाच। अत्र 'सौधमिव' इत्युपमा। 'सितिम्ना लम्भयन्' इति असम्बन्धे सम्बन्धवर्णनरूपातिशयोक्तिः। द्विजावलिव्याजशब्देनासत्यत्वप्रतिपादनात्कैतवापह्नुतीनां परस्परं नैरपेक्ष्येण समावेशात् तिलतण्डुलन्यायेन पार्थक्येन प्रतीतेश्च संसृष्टिरलङ्कारः। यथा साहित्यदर्पणे—'मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इति।

कोशः—'सौधोऽस्त्री राजसदनम्' इत्यमरः। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः। 'शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्वेतपाण्डराः' इत्यमरः। 'अवदातः सितः' इत्यमरः।

समासः—अभीक्ष्णं विसरन्तीति विसारिणः, तैः विसारिभिः। द्विजानाम् अवलिः द्विजावलिः (त० पु०), सैव व्याजः यस्य सः द्विजावलिव्याजः (ब० व्री०), स चासौ निशाकरश्च द्विजावलिव्याजनिशाकरः, तस्य अंशवस्तैः द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः (क० त०)। शुचि स्मितं यस्याः सा, तां शुचिस्मिताम् (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—विसारिभिः—वि + सृ + 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' (३।२।८१) इति णिनिः। सितिम्ना—सित + इमनिच् + टा।

हिन्दी—इसके बाद श्रीकृष्णजी फैलती हुई, अपनी दन्तपंक्ति के बहाने से चन्द्रमा की किरणों के द्वारा (स्वभावतः) शुभ्र मुनि नारदजी के शरीर को चूने से लिप्त राजमहल के समान अत्यन्त शुभ्र करते हुए कुछ मुसकान(हास्य)-युक्त वचन बोले ॥ २५ ॥

श्रीकृष्णकृतां नारदप्रशंसामाह—

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—भवदीयदर्शनं शरीरभाजां कालत्रितयेऽपि योग्यतां व्यनक्ति। सम्प्रति अघं हरति। एष्यतः शुभस्य हेतुः पूर्वाचरितैः शुभैः कृतम्।

बालबोधिनी—भवदीयदर्शनं = श्रीमतां तत्रभवतां भवतां दर्शनम्, त्वदीयावलोकनम्। शरीरभाजां = शरीरिणाम्, प्राणिनाम्। कालत्रितयेऽपि = भूतादिकालत्रयेऽपि। योग्यतां = अर्हताम्, धन्यताम्, पवित्रताम्। व्यनक्ति = प्रकटयति, गमयति, बोधयति। सम्प्रति = इदानीम्, दर्शनकाले। अघं = पापम्। हरति = अपसारयति, विनाशयति। किं च—एष्यतः = भाविनः। शुभस्य = कल्याणस्य, श्रेयसः। हेतुः = कारणम्। किञ्च, पूर्वाचरितैः = पूर्वानुष्ठितैः। शुभैः = सुकृतैः, पुण्यैः। कृतम् = उपनतम्, लब्धम्। अतः एतादृशं दर्शनं कस्य न प्रार्थ्यमिति भावः। अत्र हरतीत्यादिवाक्यत्रयस्यार्थस्य शरीरभाजामित्यादिवाक्यार्थे हेतुत्वेनोपन्यासाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति।

कोशः—'कलुषं वृजिनैनोऽघम्' इत्यमरः। 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः। 'हेतुर्ना कारणं बीजम्' इत्यमरः। 'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रम्' इत्यमरः।

समासः—भवतः इदं भवदीयं, भवदीयं च तद् दर्शनं च भवदीयदर्शनम् (क० त०)। शरीरं भजन्ति ये ते शरीरभाजः, तेषां शरीरभाजाम् (त० पु०)। त्रयः अवयवाः यस्य तत् त्रितयम्, कालस्य त्रितयमिति कालत्रितयम्, तस्मिन् कालत्रितये। योक्तुमर्हः योग्यः, तस्य भावः योग्यता, तां योग्यताम्। पूर्वम् आचरितानि पूर्वाचरितानि, तैः पूर्वाचरितैः।

व्याकरणम्—एष्यतः—इण्+लट्+लटः स्थाने शतृ। शरीरभाजाम्—शरीर+भज् 'भजो ण्विः' (३।२।६२) इति ण्विः। व्यनक्ति—वि+अञ्ज+लट्—तिप्। त्रितये—त्रि+तयप्। आचरितैः-आ+चर्+क्तः।

हिन्दी—आपका दर्शन तीनों कालों में शरीरधारियों की पवित्रता (योग्यता) को प्रकट करता है। (क्योंकि) वर्तमान समय में पाप का नाश करता है, भविष्य में आने वाले कल्याण का हेतु है, (और भूतकाल में) किये हुए पुण्यों द्वारा (यह आपका दर्शन) प्राप्त हुआ है॥ २६॥

नारदस्य सूर्यादाधिक्यं दर्शयति—

जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना न यन्नियन्तुं समभावि भानुना।
प्रसह्य तेजोभिरसंख्यतां गतैरदस्त्वया नुन्नमनुत्तमं तमः॥ २७॥

अन्वयः—जगति अपर्याप्तसहस्रभानुना भानुना यत् तमः नियन्तुं न समभावि, अनुत्तमम् अदः तमः असंख्यतां गतैः तेजोभिः प्रसह्य त्वया नुन्नम्।

बालबोधिनी—जगति=लोके। अपर्याप्तसहस्रभानुना=अपरिच्छिन्नसहस्रकिरणेन। भानुना=सूर्येण। यत् तमः=यदज्ञानरूपं ध्वान्तम्। नियन्तुं=निवारयितुम्, दूरीकर्तुम्। न समभावि=न शेके। अनुत्तमं=नितरां प्रगाढम्, सर्वाधिकम्। अदः=एतद्। तमः=अस्माकं मोहध्वान्तम्, अज्ञानम्। असंख्यतां गतैः=अगण्यतां प्राप्तैः, अनन्तैः। तेजोभिः=स्वप्रभावैः। प्रसह्य=बलात्। त्वया=भवता। नुन्नं=छिन्नम्, निरस्तम्। अतः श्लाघ्यदर्शनीयो भवानिति भावः। अत्रोपमानाद् भानोर्मुनेराधिक्यप्रतिपादनाद् व्यतिरेकालङ्कारः।

कोशः—'भानवोऽर्ककरांशवः' इति वैजयन्ती। 'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः' इत्यमरः। 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यमरः।

समासः—अपर्याप्ता सहस्रं भानवो यस्य, तेन अपर्याप्तसहस्रभानुना (ब० व्री०)। नास्ति उत्तमं यस्मात्तदनुत्तमम् ।

व्याकरणम्—नियन्तुम्–नि + यम् + तुमुन् । समभावि—सम् + भू + भावे लुङ् + त । नुन्नम्—नुद् + क्तः ।

हिन्दी—संसार में न समाने वाली हजारों किरणों वाले सूर्य के द्वारा भी जिस अज्ञान रूपी अन्धकार का निवारण नहीं किया जा सका, उसी सर्वातिशायी अज्ञान रूपी अन्धकार को अपने असंख्य तेजों के द्वारा आपने बलात् नष्ट कर दिया ॥ २७ ॥

नारदस्य श्रुतिनिधित्वं दर्शयति—

कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना ।
सदोपयोगेऽपि गुरुस्त्वमक्षयो निधिः श्रुतीनां धनसम्पदामिव ॥ २८ ॥

अन्वयः—प्रजाक्षेमकृता सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना प्रजासृजा त्वं धनसम्पदाम् इव श्रुतीनां सदा उपयोगे अपि अक्षयः गुरुः निधिः कृतः ।

बालबोधिनी—प्रजाक्षेमकृता=जनकल्याणकारिणेति ब्रह्मपक्षेऽर्थः, स्वापत्यहितैषिणेति पित्रादिपक्षेऽर्थः । सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना=योग्यपुरुषनिक्षेपस्वस्थचित्तेन, पक्षे—कटाहादिदृढभाजननिधानस्वस्थचित्तेन । प्रजासृजा=ब्रह्मणा, पक्षे—पुत्रिणा । त्वं=भवान्, नारदः । धनसम्पदां=धनसम्पत्तीनाम् । इव=यथा । श्रुतीनां=वेदानाम् । सदा=सर्वदा । उपयोगेऽपि=अध्ययनाध्यापनादौ उपयोगेऽपि, पक्षे—दानभोगाभ्यां व्ययेऽपि । अक्षयः=नाशरहितः, एकत्राम्नायादन्यत्रानन्त्याच्चेति भावः । गुरुः=उपदेष्टा, सम्प्रदायप्रवर्तक इति यावत्, अन्यत्र—महान् । निधिः=निक्षेपः, शेवधिः । कृतः=विहितः, संस्थापितः । सम्प्रदायप्रवर्तकानां धर्माधर्मव्यवस्थापकतया जगत्प्रतिष्ठाहेतूनां भवादृशां दर्शनं कस्य न श्लाघ्यमिति भावः । अत्र शब्दमात्रसाधर्म्यात् श्लेषालङ्कार इति केचित् । वस्तुतस्तु श्लेषानुप्राणितोपमैवेयमिति दिक् ।

कोशः—'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः । 'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इत्यमरः । श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इत्यमरः ।

समासः—प्रजानां क्षेमं प्रजाक्षेमम्, प्रजाक्षेमं कृतवानिति प्रजाक्षेमकृत्, तेन प्रजाक्षेमकृता (त० पु०) । सुपात्रे निक्षेपः सुपात्रनिक्षेपः, सुपात्रनिक्षेपेण निराकुलः आत्मा यस्य सः, तेन सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना (ब० व्री०) । प्रजाः सृजतीति प्रजासृट्, तेन प्रजासृजा (त० पु०) । निधीयते इति निधिः, निधानं

वा निधिः । धनानां सम्पदः धनसम्पदः, तासां धनसम्पदाम् (त० पु०) । न विद्यते क्षयो यस्य सः अक्षयः । श्रूयन्ते इति श्रुतयः, तासां श्रुतीनाम् ।

व्याकरणम्—प्रजाक्षेमकृता—प्रजाक्षेम + कृ + क्विप् । प्रजासृजा—प्रजासृज् + क्विप् । उपयोगे—उप + युज् + घञ् । निधिः—नि + धा + 'उपसर्गे घोः कि' (३।२।९२) इति किप्रत्ययः । श्रुतीनाम्—श्रु + क्तिन् ।

हिन्दी—जैसे पिता या पितामहादि कोई गृहपति अपनी सन्तान के कल्याण के लिये अक्षय अनन्त धनराशि को किसी सुदृढ़ पात्र कण्डाल, कलसा या सन्दूकादि में रखकर (आपत्तिकाल के लिये उसे भूमि में गाड़कर) निश्चिन्त हो जाता है, वैसे ही प्रजापति ब्रह्माजी भी आपको (वेद-सम्प्रदाय की रक्षा के लिये) अध्ययन-अध्यापन में सदा उपयोग करते रहने पर भी कभी क्षय नहीं होने वाला वेदों का अनन्त निधि बनाकर सदा के लिये निश्चिन्त हो गये ।

श्रीकृष्णो नारदं प्रति मधुरं वक्तुमारभते—

विलोकनेनैव तवामुना मुने ! कृतः कृतार्थोऽस्मि निर्वाहितांहसा ।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीगिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥ २९ ॥

अन्वयः—मुने ! निर्वाहितांहसा अमुना तव विलोकनेन एव कृतार्थः कृतः अस्मि । तथापि अहं गरीयसीः (तव) गिरः शुश्रूषुः अस्मि । अथवा श्रेयसि केन तृप्यते ?

बालबोधिनी—मुने=हे मुनिश्रेष्ठ नारद ! निर्वाहितांहसा=निरस्तपापेन, अपहृतकिल्विषेण । अमुना=अनेन, पवित्रतमेन शुभेन चेति भावः । तव=भवतः । विलोकनेन=दर्शनेन । एवेति निश्चये । कृतार्थः=कृतकृत्यः । कृतः=विहितः । अस्मि । तथापि=एवमपि, अथापि, कृतार्थे कृतेऽपीत्यर्थः । अहं=श्रीकृष्णः । गरीयसीः=अर्थवत्तराः, अर्थगुर्वीः । (तव=भवतः ।) गिरः=वाचः । शुश्रूषुः=श्रोतुमिच्छुः । अस्मि । न हि वाचः श्रवणे निष्प्रयोजना मे प्रवृत्तिरित्याह—अथवा=तथाहि । 'अथवेति पक्षान्तरप्रसिद्धयोः' इति गणव्याख्यानात् । श्रेयसि=कल्याणविषये । केन=केन पुंसा । तृप्यते=सन्तुष्यते ? न केनाऽपि तृप्यते इत्यर्थः । कृतार्थताया इयत्ताऽभावादिति भावः । अत्र 'अथवा श्रेयसि–' इत्यादिवाक्यार्थः, तथापीत्यादिवाक्यार्थस्य समर्थक इति काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं कुवलयानन्दे—'समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम्' इति ।

कोशः—'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्' इत्यमरः । 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः ।

समासः—निर्वर्हितं अंहो येन तत् निर्वर्हितांहः, तेन निर्वर्हितांहसा (ब० व्री०)। कृतः अर्थः यस्य येन वा कृतार्थः (ब० व्री०)। श्रोतुमिच्छुः शुश्रूषुः। अतिशयेन गुर्व्यः गरीयस्यः, ताः गरीयसीः।

व्याकरणम्—विलोकनेन—वि + लोक् + ल्युट्। शुश्रूषुः-श्रु + सन् + उः। गरीयसीः—गुरु + ईयसुन् + ङीप्, गुरुशब्दात् 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' इति गुरोर्गरादेशः। 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप्।

हिन्दी—हे मुनि नारदजी ! पापों को दूर करने वाले आपके इस दर्शन से ही मैं कृतार्थ हो गया हूँ, तो भी आपकी अत्यन्त श्रेष्ठ वाणी को सुनना चाहता हूँ। क्योंकि कल्याण के विषय में कौन तृप्त होता है ?॥ २९॥

एवं मधुरमुक्त्वा श्रीकृष्णः नारदागमनप्रयोजनं विनयेन पृच्छति—

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम्॥ ३०॥

अन्वयः—गतस्पृहः अपि आगमनप्रयोजनं वद इति वक्तुं यया व्यवसीयते उदितात्मगौरवः गुरुः एष तव आगमः एव नः तां धृष्टतां तनोति।

बालबोधिनी—गतस्पृहः=निःस्पृहः, विरक्तः, विगततृष्णः। अपि (त्वम्)। आगमनप्रयोजनं=आगमनकारणम्। वद=ब्रूहि। इति=इत्थम्, इत्येवम्। वक्तुम्=कथयितुम्, निगदितुम्। यया=धृष्टतया। व्यवसीयते=उद्यम्यते। उदितात्मगौरवः=प्रकटितनिजमाहात्म्यः। अत्र 'उदितात्मगौरवः' इत्यस्य आगमविशेषणत्वात् 'आत्म'-शब्दोऽपि तस्यैव वाचकः। गुरुः=महान्, श्लाघ्यः। एषः=अयम्। तव=भवतः। आगमः=आगमनम्। नः=अस्माकम्। ताम्=आगमनप्रश्नरूपाम्। धृष्टतां=धाष्टर्यम्। तनोति=विस्तारयति। अत्र 'भवन्तमागमनप्रयोजनं पृच्छामि' इत्यर्थः। प्रकारान्तरेणोदित इति पर्यायोक्तालङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' इति।

कोशः—'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ महति दुर्भरे' इति धरणिः। 'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः' इत्यमरः।

समासः—गता स्पृहा यस्याऽसौ गतस्पृहः (ब० व्री०)। आगमनस्य प्रयोजनं, तत् आगमनप्रयोजनम् (त० पु०)। गुरोर्भावः कर्म वा गौरवम्, आत्मनः गौरवम् आत्मगौरवम्, उदितम् आत्मगौरवं येनाऽसौ उदितात्मगौरवः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—व्यवसीयते—वि+अव+सि+लट्—त। तनोति-तनु+लट्—तिप्। धृष्टता—धृष्ट+तल् 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५।१।११९) इति।

हिन्दी—(श्रीकृष्ण भगवान् विनयपूर्वक नारदजी से आने का कारण पूछते हैं—) 'निःस्पृह रहते हुए भी आप (अपने) आने का कारण बताएँ?' यह कहने के लिए जो धृष्टता मुझे उद्यत कर रही है, मेरी उस धृष्टता को, अपने महत्त्व को प्रकट करने वाला आपका यह (महत्त्वपूर्ण) आगमन ही बढ़ा रहा है।

टिप्पणी—**उदितात्मगौरवः**—इस शब्द का अर्थ मल्लिनाथ ने तथा उनका अनुकरण करने वाले आधुनिक प्रायः सभी टीकाकारों ने इस प्रकार किया है—'उदितम्=उत्पन्नमुक्तं वा आत्मनो=मम गौरवं येन सः' अर्थात् अभिहितमदीय-माहात्म्यः, उत्पन्नमदीयो गौरव इति वा—जिसने मेरे गौरव को प्रकट कर दिया है या बढ़ा दिया है, वह आपका आगमन। वस्तुतः यह अर्थ अनुचित तथा क्लिष्टकल्पनापूर्ण है, क्योंकि 'उदितात्मगौरवः' यह शब्द 'आगमः' का विशेषण है और यह बात मल्लिनाथ तथा अन्य सभी को भी अभिमत है। अतः इस पद में 'आत्म' शब्द भी 'आगम' के लिए ही आया है। अर्थ इस प्रकार होगा—'उदितं=कथितम्, आत्मनः=स्वस्य, गौरवं=माहात्म्यम्, येन सः' अर्थात्; जिसने अपने गौरव को प्रकाशित किया है, इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण आपका आगमन॥ ३०॥

नारदस्य श्रीकृष्णं प्रत्युत्तरमाह—

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती न वाच्यमित्थं पुरुषोत्तम! त्वया।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किमस्ति कार्यं गुरु योगिनामपि॥ ३१॥

अन्वयः—इति ब्रुवन्तं तं स व्रती उवाच—पुरुषोत्तम! त्वया इत्थं न वाच्यम्। योगिनाम् अपि त्वम् एव साक्षात्करणीयः, इत्यतः गुरु कार्यं किमस्ति।

बालबोधिनी—इति=इत्थम्। ब्रुवन्तं=कथयन्तम्। तं=श्रीकृष्णम्। सः=ब्रह्मणो मानसपुत्रः। व्रती=मुनिर्नारदः। उवाच=जगाद। हे पुरुषोत्तम=हे नरोत्तम! त्वया=भवता। इत्थम्=ईदृक् 'गतस्पृहोऽपि' इत्यादिः। न वाच्यं=न कथनीयम्। निःस्पृहस्याप्यत्र प्रयोजनसम्भवादिति भावः। तदेवाह—योगिनां=समाहितचेतसाम्। अपि त्वं=भवान्। एवेति निश्चये। साक्षात्करणीयः=प्रत्यक्षीकर्त्तव्यः। इति=अतो हेतोः। अतः=अस्माद् भवद्-दर्शनादन्यत्। गुरु=महत्, श्रेष्ठम्, अधिकम्। कार्यं=करणीयम्, प्रयोजनम्। किमस्ति=किं विद्यते। नैव किञ्चिदित्याशयः।

कोशः—'गुरुर्महत्यङ्गिरसे पित्रादौ धर्मदेशके। अलघौ दुर्जरे चाऽपि' इति हैमः।

समासः—व्रतमस्यास्तीति व्रती। पुरि=देहे शेते इति पुरुषः, पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः, तत्सम्बुद्धौ हे पुरुषोत्तम! (त० पु०)। असाक्षात् साक्षात् अवश्यं कर्त्तव्य इति साक्षात्करणीयः। योगोऽस्यास्तीति योगी।

व्याकरणम्—ब्रुवन्तम्—ब्रू+शतृ। व्रती—व्रत+इनिः। वाच्यम्—वच्+ण्यत्। साक्षात्करणीयः—साक्षात्+कृ+अनीयर्। योगिनाम्—योग+इनिः।

हिन्दी—इस प्रकार कहते हुए उन श्रीकृष्ण भगवान् से मुनि नारदजी बोले—हे पुरुषश्रेष्ठ! आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए। (क्योंकि) योगियों के भी आप ही साक्षात् करने योग्य हैं, इसलिए इस(आपके दर्शन)से बड़ा कार्य और क्या हो सकता है? (अतः आपके दर्शन के लिए ही मेरा यहाँ आगमन हुआ है।)

टिप्पणी—योगिनाम्—योगियों का। संसार के समस्त विषयों से चित्त-वृत्तियों को हटाकर आत्म-स्वरूप में स्थिर करना योग कहलाता है। जैसा कि योगदर्शन में पतञ्जलि ने कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', तथा 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योगदर्शन पाद १, सू० २, ३)। उस योग की साधना करने वालों को योगी कहते हैं ॥ ३१ ॥

योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इति यदुक्तं तदेव द्रढयति—

उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयाऽतिदुर्गमम्।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वमग्रभूमिर्निरपायसंश्रया ॥ ३२ ॥

अन्वयः—उदीर्णरागप्रतिरोधकम् अभीक्ष्णम् अक्षुण्णतया जनैः अतिदुर्गमं मोक्षपथम् उपेयुषः मनस्विनः त्वं निरपायसंश्रया अग्रभूमिः (असि)।

बालबोधिनी—उदीर्णरागप्रतिरोधकं=प्रवृद्धविषयाभिलाषनिवारकम्। कान्तारपक्षे—मोहान्धचौरादिविरोधिगणसङ्कुलम्। अभीक्ष्णं=मुहुर्मुहुः, निरन्तरम्। अक्षुण्णतया=अनभ्यस्तत्वेन, कान्तारपक्षे—अपरिचितत्वेन, अप्रतिहतत्वेन च। जनैः=मुमुक्षुभिः, कान्तारपक्षे—पान्थलोकैः। अतिदुर्गमं=अतिगहनम्, गन्तुमशक्यम्, कान्तारपक्षे—अतिदुस्तरम्, दुर्लङ्घ्यं च। मोक्षपथं=अपवर्गमार्गम्, पक्षे—कान्तारं च। उपेयुषः=परिशीलयतः, प्राप्तवतश्च। मनस्विनः=आत्मचिन्तापरायणस्य, प्रशस्तमनसः, कान्तारपक्षे—उत्साहवतः, धीरस्य च। त्वमेव=

भवानेव । निरपायसंश्रया=पुनरावृत्तिरहितप्राप्तिः । 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुतेः । कान्तारपक्षे—सकलभयविवर्जितप्राप्तिः । अग्रभूमिः=प्राप्यस्थानम् । असीति शेषः । तस्मान्मुमुक्षूणामपि त्वमेव साक्षात् करणीय इति भावः । यथा कस्यचित् कुतश्चित् सङ्कटान्निर्गतस्य केनचित् कान्तारेण गतस्य किञ्चिन्निर्बाध-स्थानप्राप्तिरभयाय कल्पते तथा त्वमपि मुमुक्षोरिति मल्लिनाथः । मतान्तरे त्वत्र प्रकृतयोर्मुमुक्षुश्रीकृष्णयोः प्रतिपादकेनाऽनेन वाक्येन 'उदीर्णरागादिश्लिष्ट-विशेषणैश्चौरादिभयसन्तप्तपान्थतत्प्राप्यस्थानयोरप्रकृतयोरर्थयोः प्रतीतिर्भवति, विशेष्यं च 'त्वम्' न श्लिष्टमिति समासोक्तिरलङ्कारः । यदुक्तं काव्यप्रकाशे—'परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः' । इति ।

कोशः—'प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः' इत्यमरः । 'अग्रमाल-म्बने प्राप्ये' इति विश्वः ।

समासः—उदीर्णश्चासौ रागश्च उदीर्णरागः, उदीर्णराग एव प्रतिरोधको यस्मिन्नसौ उदीर्णरागप्रतिरोधः, तम् उदीर्णरागप्रतिरोधकम् (कर्म० गर्भ ब० व्री०), अन्यत्र–उदीर्णो रागो यस्याऽसौ उदीर्णरागः=चौरादिः, स एव प्रतिरोधको यस्मिन्नसौ उदीर्णरागप्रतिरोधकः, तम् (ब० व्री०)। दुःखेन गम्यते इति दुर्गमः, अतिशयितो दुर्गमः अतिदुर्गमः, तम् अतिदुर्गमम् । मोक्षस्य पन्थाः मोक्षपथः, तं मोक्षपथम् (त० पु०)। निर्गतः अपायः यस्मात् सः निरपायः, निरपायः संश्रयो यस्याः सा निरपायसंश्रया (ब० व्री०)। अग्रे भूमिः अग्रभूमिः ।

व्याकरणम्—अतिदुर्गमम्—अति+दुर्+गम्+खल् । मनस्विनः–मनस्+विनिः । मोक्षपथम्—मोक्ष+पथिन् 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे'. (५।४।७४.) इति समासान्तः अप्रत्ययः । उपेयुषः—उप्+इण्+लिट् 'उपेयिवानाश्वाननू-चानश्च' (३।१।१०९) इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपात्यते ।

हिन्दी—बढ़ा हुआ सांसारिक विषयों का अनुराग ही जिसमें बाधक है तथा जो लोगों से अनभ्यस्त होने से अत्यन्त दुर्गम है, उस मोक्षमार्ग को पाये हुए मोक्षार्थी पुरुष के लिए आप ही पुनरावृत्तिरहित (जन्म-मरणरूप सांसारिक दुःखों से रहित) प्राप्तव्य स्थान है ।

पक्षान्तर—जिसमें बढ़े हुए सांसारिक राग वाला चोर है तथा जो लोगों से अधिक यातायात नहीं होने से अत्यन्त दुर्लङ्घ्य है, उस भीषण वनमार्ग को प्राप्त हुए धीर पुरुष के लिए जैसे कोई निर्बाध हमेशा रहने योग्य स्थान ही

प्राप्तव्य होता है। अर्थात् जैसे चोर-डाकुओं से भरे हुए बीहड़ जंगल में जाता हुआ पथिक अपने गन्तव्य (सभी सुख-साधनों से परिपूर्ण) भयरहित आश्रय-स्थान पर पहुँचकर निश्चिन्त हो जाता है और फिर आनन्दपूर्वक उसी स्थान पर रहता है, उसी तरह गहन, दुर्गम तथा काम, क्रोध आदि विघ्नों से भरे हुए मोक्षमार्ग पर चलने वाले योगियों के लिए आप ही प्राप्तव्य परम पद हैं।

ननु सांख्यशास्त्रोक्तपुरुषसाक्षात्कारान्मोक्षो नाऽस्मत्साक्षात्कारादित्याशङ्क्याह—

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः॥ ३३॥

अन्वयः—पुराविदः त्वां निगृहीतमानसैः अध्यात्मदृशा कथञ्चन गृहीतम् उदासितारं बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथक् पुरातनं पुरुषं त्वां विदुः।

बालबोधिनी—पुराविदः = पूर्वज्ञाः, पुराणतत्त्वविदः कपिलादयो मुनयः। त्वां = भवन्तम्। निगृहीतमानसैः = संयतचित्तैर्योगिभिः। अध्यात्मदृशा=प्रत्यग्दृष्ट्या, अन्तर्दृशा। कथञ्चन = महाप्रयासेन। गृहीतं = साक्षात्कृतम्। उदासितारम्=उदासीनम्, प्रकृतौ स्वार्थप्रवृत्तायामपि स्वयं तद्भिन्नत्वादस्पष्टमित्यर्थः। बहिर्विकारं = महदादिप्रकृतिविकारभिन्नम्। प्रकृतेः = प्रधानात्, त्रिगुणात्मिकायाः कारणरूपायाः मूलप्रकृतेः। पृथक् = भिन्नम्। पुरातनं = पुराणम्, अनादिम्, सनातनम्। पुरुषं = पुरुषपदवाच्यम्, विज्ञानघनम्। विदुः = विदन्ति, जानन्ति। तथा सांख्यकारिकायाम्—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥' का० ३॥ इति।

कोशः—'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु प्रधाने मूलकारणे' इति यादवः। 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इत्यमरः।

समासः—निगृहीतं मानसं यैस्तैः निगृहीतमानसैः (ब० व्री०)। पुरा (पूर्वकालं, पुरावृत्तम्) विदन्तीति पुराविदः। आत्मनि अधि इत्यध्यात्मम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। अध्यात्मं या दृक् सा अध्यात्मदृक्, तया अध्यात्मदृशा। विकारेभ्यो बहिरिति बहिर्विकारम् (अव्ययीभावः)। पुरा भवः पुरातनः, तं पुरातनम्।

व्याकरणम्—पुराविदः—पुरा + विद् + क्विप्। पुरातनम्—पुराशब्दात् 'सायंचिरम्०' (४।३।२३) इत्यादिना ट्युप्रत्ययः। तुडागमश्च। विदुः—विद् + लट् + झि 'विदो लटो वा' (३।४।८३) इति झेरुसादेशः।

हिन्दी—पूर्वकालिक (प्राचीन) वृत्त को जानने वाले (कपिल तथा सनत्कुमारादि महामुनि) आपको, मन को वश में करने वाले योगियों के द्वारा अध्यात्म दृष्टि से किसी तरह साक्षात् किया हुआ, क्रियाशून्य, प्रकृति के महदादि तेईस विकारों से विलक्षण तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति से भी भिन्न अनादि पुरुष जानते हैं।

टिप्पणी—कवि ने इस श्लोक में सम्पूर्ण सांख्यशास्त्र का रहस्य भर दिया है। यहाँ पर मुख्य रूप से सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल के लिये यह 'पुराविदः' शब्द आया है, जिसका अर्थ है—पूर्व सृष्टियों के विषय में जानने वाला। श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति जायमानं च पश्येत्' इति (५।१)।

साङ्ख्यशास्त्र में चार प्रकार के पदार्थ माने गये हैं—(१) प्रकृति, (२) प्रकृति-विकृति, (३) विकृति, (४) पुरुष।

१. प्रकृति—सत्त्व, रजः, तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। यह सबका आदिकारण है और यह नित्य है। यह स्वयं किसी से पैदा नहीं होती है और उससे महान् (बुद्धि) तत्त्व की उत्पत्ति होती है। अर्थात् प्रकृति कारण तो है पर कार्य किसी का नहीं है, इसीलिये इसका नाम प्रकृति है।

२. प्रकृति-विकृति—बुद्धि (महान्), अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्राएँ (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) ये सात पदार्थ प्रकृति तथा विकृति उभयात्मक हैं, अर्थात् ये कारण भी हैं और कार्य भी। बुद्धि तत्त्व प्रकृति से उत्पन्न होता है। अतः वह प्रकृति का कार्य है, बुद्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है, इसलिये बुद्धि अहङ्कार का कारण है। अहङ्कार बुद्धि से उत्पन्न होता है, अतः वह बुद्धि का कार्य है। यह अहङ्कार एकादश इन्द्रियों और पञ्च तन्मात्राओं को उत्पन्न करता है, अतः वह कारण है। पञ्च तन्मात्राएँ—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द—ये अहङ्कार से उत्पन्न होती है, अतः ये अहङ्कार के कार्य हैं तथा क्रम से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश को उत्पन्न करती हैं, अतः ये कारण हैं।

३. विकृति—पञ्च महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) तथा एकादश इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाणि, पाद, वाक् (वाणी), मूत्रेन्द्रिय तथा मलेन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन) ये १६ तत्त्व केवल विकृति अर्थात् कार्य हैं, क्योंकि ये अहङ्कार से उत्पन्न होते हैं, कारण किसी के नहीं हैं क्योंकि इनके कोई तत्त्व पैदा नहीं होता है।

४. **पुरुष**—यह न प्रकृति है और न विकृति तथा उभयात्मक भी नहीं है । वह तो इन सबसे विलक्षण नित्य शुद्ध-बुद्ध-चेतन-उदासीन पुरुष है ।

यहाँ पर कृष्ण को ही पुराणपुरुष माना गया है तथा नारद को योगी ।

निगृहीतमानसैः—मन को वश में करने वाले योगियों के द्वारा । परमात्मा का साक्षात्कार तभी होता है जब कि चित्त की वृत्तियों को रोक कर मन को एकाग्र कर लिया जाय ॥ ३३ ॥

भगवतः श्रीकृष्णस्य सांख्यदर्शनेन निष्क्रियत्वं निर्गुणत्वं च प्रतिपाद्य सम्प्रति प्रकृतोपयोगितया पाञ्चरात्रदर्शनेन सगुणत्वं कर्तृत्वं चाश्रित्य षड्भिः श्लोकैः स्तौति । प्रथमं वराहरूपेण तस्य धरोद्धरणमाह—

न्विवेशयामासिथ हेलयोद्धृतं फणाभृतां छादनमेकमोकसः ।
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भशिरःसु भूतलम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—जगत्त्रयैकस्थपतिः त्वं हेलया उद्धृतं फणाभृताम् ओकसः एकं छादनं भूतलम् उच्चकैः अहीश्वरस्तम्भशिरःसु निवेशयामासिथ ।

बालबोधिनी—जगत्त्रयैकस्थपतिः = त्रैलोक्याधिपतिः, पक्षान्तरे—त्रैलोक्यशिल्पी च । त्वं = भवान् । हेलया = लीलया । उद्धृतं=उत्थापितं, वराहावतारे समुद्धृतम् । क्वचिद् हेलयोद्वृतमिति पाठान्तरम्, तत्र उद्वृतमित्यस्य चलितमित्यर्थः, भूतलमित्यस्य विशेषणमिदम् । फणाभृतां = सर्पाणाम् । ओकसः = आश्रयस्य पातालरूपस्य, पक्षान्तरे–सद्मनश्च । एकं = मुख्यम्, प्रधानम् । छादनं= आवरणम् । भूतलं = भूवलयम्, पृथिवीतलम् । उच्चकैः = उन्नतेषु । अहीश्वरस्तम्भशिरःसु = सर्पाधिपतिशेषशिरोरूपस्तम्भाग्रभागेषु, शेषफणासहस्रेषु । निवेशयामासिथ = निवेषितवानसि, नियोजितवानसि । अत्र एकस्थपतिः एकस्वामी एवाद्वितीयशिल्पीत्यारोपो पृथिव्याश्छादनत्वारोपे, फणाभृतामोकसः (पातालस्य) गृहत्वारोपे, शेषस्य स्तम्भत्वारोपे च निमित्तमिति श्लेषपरम्परितरूपकमलङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् । तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम्' इति ।

कोशः—'स्थपतिश्चाधिपे तीक्ष्णे बृहस्पतिसचिवयोः' इति वैजयन्ती । 'ओकः सद्मनि चाश्रये' इति विश्वः ।

समासः—त्रयः अवयवाः अस्येति त्रयम्, जगतां त्रयमिति जगत्त्रयम्, एकश्चासौ स्थपतिश्च एकस्थपतिः, जगत्त्रयस्य एकस्थपतिः जगत्त्रयैकस्थपतिः । फणाः

बिभ्रतीति फणाभृतः, तेषां फणाभृताम् । ईष्टे इति ईश्वरः । अहीनाम् ईश्वरः अहीश्वरः, अहीश्वर एव स्तम्भः, तस्य शिरांसि, तेषु अहीश्वरस्तम्भशिरःसु । वस्तुतस्तु स्तम्भा इव शिरांसि स्तम्भरूपाणि वा शिरांसि स्तम्भशिरांसि, अहीश्वरस्य स्तम्भशिरांसि अहीश्वरस्तम्भशिरांसि, तेषु अहीश्वरस्तम्भशिरःसु ।

व्याकरणम्—उद्धृतम्—उद् + धृ + क्तः । छादनम्—छाद् + णिच् + ल्युट् । निवेशयामासिथ—नि + विश् + णिच् + लिट्—थल् 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (३।१।४०) इत्यस्तेरनुप्रयोगः ।

हिन्दी—तीनों लोकों के अद्वितीय कारीगर रूपी एक स्वामी आपने अनायास उठाये हुए सर्पों के घर रूपी आश्रय (पाताल) के एक (छादन) छप्पर रूपी भूतल को स्तम्भ रूपी शेषनाग के अग्रभाग रूपी सिरों पर रख दिया था ।

जिस प्रकार बढ़ई आदि कोई कारीगर मकान के आवरण (छप्पर या टीन आदि) को सरलतापूर्वक उठाकर उसे ऊँचे खम्भों पर रख देता है, उसी प्रकार तीनों लोकों के स्वामी आपने वराह रूप धारण कर अपने दाँतों पर अनायास उठाये हुए पाताललोक के छप्पर रूप इस भूतल को शेषनाग के सिरों के ऊपर रख दिया था ।

टिप्पणी—यहाँ भगवान् के वराहावतार के विषय में पौराणिक कथा इस प्रकार है—जब हिरण्याक्ष नामक दैत्य ने अपने बल के गर्व में चूर होकर इस पृथिवी को समुद्र के भीतर गहराई तक धँसा दिया तो विष्णु भगवान् ने पृथिवी के उद्धार के लिये वराह का रूप धारण करके समुद्र के भीतर धँसती हुई पृथिवी को अपने दाँतों पर रोककर एक हजार वर्ष तक उस दैत्य से निरन्तर युद्ध करते हुए उसे मार डाला ।। ३४ ।।

श्रीकृष्णस्य अपूर्वं महिमानं दर्शयति—

अनन्यगुर्वास्तव केन केवलः पुराणमूर्तेर्महिमावगम्यते ।
मनुष्यजन्माऽपि सुराऽसुरान् गुणैर्भवान्भवच्छेदकरैः करोत्यधः ।। ३५ ।।

अन्वयः—अनन्यगुर्वाः तव पुराणमूर्तेः केवलः महिमा केन अवगम्यते ? मनुष्यजन्मा अपि भवान् भवच्छेदकरैः गुणैः सुराऽसुरान् अधःकरोति ।

बालबोधिनी—अनन्यगुर्वाः=अनितरश्रेष्ठायाः, सर्वोत्तमायाः । 'अनन्यगुर्व्याः' इति पाठान्तरम्, अर्थे तु न विशेषः । तव=भवतः । पुराणमूर्तेः=पुरातनस्वरूपस्य, दिव्यस्य वपुषः । । केवलः=कृत्स्नः, अशेषः । महिमा=माहात्म्यम् ।

केन = पुरुषेण । अवगम्यते = ज्ञायते । न केनाऽपि तत्त्वतो भवतो महिमा ज्ञायते इत्यर्थः । मनुष्यजन्माऽपि=मानवशरीरधारी अपि । भवान्=त्वम् । भवच्छेदकरैः =संसारनिवर्तकैः, भवबन्धनकर्तनपटुभिः । 'भवोच्छेदकरैः' इति पाठे संसारोच्छेदकारिभिरित्यर्थः । गुणैः=ज्ञानैश्वर्यादिभिः, दयादाक्षिण्यादिभिश्च गुणैः । सुरासुरान् = देवासुरान् । अधःकरोति = तिरस्करोति । अत्रोत्तरार्धे 'सुरा सुरा' 'भव' 'भव', 'करै करो' इत्यादिषु व्यञ्जनावृत्त्या छेकानुप्रासः । तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा' इति ।

कोशः—'केवलः कृत्स्नः एकः स्यात्केवलश्चावधारणे' इति विश्वः ।

समासः—न विद्यते अन्यो गुरुर्यस्याः सा अनन्यगुरुः, तस्याः अनन्यगुर्वाः (ब० व्री०) । पुराणश्चासौ मूर्तिश्च पुराणमूर्तिः, तस्याः पुराणमूर्तेः (कर्मधारयः) । मनुष्यात् जन्म यस्य सः मनुष्यजन्मा (व्यधिकरणबहुव्रीहिः) । भवस्य छेदः भवच्छेदः, भवच्छेदं कुर्वन्तीति भवच्छेदकराः, तैः भवच्छेदकरैः (त० पु०) । सुराश्च असुराश्च सुरासुराः, तान् सुरासुरान् (त० पु०) ।

व्याकरणम्—महिमा–महत् + इमनिच् । अवगम्यते–अव + गम् + लट् + त + यक् ।

हिन्दी—सबसे श्रेष्ठ दिव्य शरीर वाले आपकी सम्पूर्ण महिमा को कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई नहीं जान सकता । (क्योंकि इस) मनुष्य जन्म वाले भी आप जन्म-मरण रूप संसार का विनाश करने वाले (अपने ज्ञानादि) गुणों से देवताओं तथा दानवों को (भी) तिरस्कृत कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

श्रीकृष्णस्य भूभारापहारकत्वमाह—

लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुराममूं किल त्वं त्रिदिवादवातरः ।
उदूढलोकत्रितयेन साम्प्रतं गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया ॥ ३६ ॥

अन्वयः—त्वम् अतिभारभङ्गुराम् अमूं लघूकरिष्यन् त्रिदिवात् अवातरः किल साम्प्रतम् उदूढलोकत्रितयेन त्वया धरित्री गुरुः क्रियतेतराम् ।

बालबोधिनी—त्वं = भवान् । अतिभारभङ्गुरां = भारातिशयभज्यमानाम्, अतिभारेण स्वयमेव भज्यमानाम् । अमूं = धरित्रीम् । लघूकरिष्यन् = निर्भारां करिष्यन्, व्यपगतभारां विधास्यन् । त्रिदिवात् = स्वर्गात् । अवातरः = अवतीर्णोऽसि । साम्प्रतं = इदानीम् । उदूढलोकत्रितयेन = धारितभुवनत्रयेण । त्वया= भवता, श्रीकृष्णेन । धरित्री = पृथिवी । गुरुः = भाराक्रान्ता, पूज्या च क्रियते-

तराम् =अतिशयेन क्रियते, विशेषतो विधीयते । अत्र यो लघुकर्ता स गुरुकर्ता कथमिति विरोधः समापतति, स च 'गौरववर्द्धकः' इत्यर्थकरणेन समाधीयते इति विरोधाभासोऽलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः' इति ।

कोशः—'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' इत्यमरः । 'धरा धरित्री धरणिः क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः' इत्यमरः ।

समासः—अतिशयितो भारः अतिभारः, तेन भङ्गुरा, ताम् अतिभारभङ्गुराम् (त० पु०) । लोकानां त्रितयमिति लोकत्रितयम्, उदूढं लोकत्रितयं येन सः, तेन उदूढलोकत्रितयेन (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—लघूकरिष्यन्—लघु + च्वि + कृ + लिट् + शतृ 'कृभ्वस्ति०' (५।४।५०) इत्यादिना च्विप्रत्ययः, 'च्वौ च' (७।४।२६) इति दीर्घः । अवातरः—अव + तॄ + लङ्—सिप् ।

हिन्दी—वस्तुतः आप (दुष्टों के) अत्यन्त भार से छिन्न-भिन्न होती हुई इस पृथिवी को हलका (भाररहित) बनाने के लिये स्वर्ग से अवतीर्ण हुए हैं। (परन्तु) इस समय (अपनी कुक्षि में) तीनों लोकों को धारण करने वाले आपके द्वारा यह पृथिवी और भी भारी (बोझिल, पक्षान्तर में—पूज्य) बनाई गई हैं ।

टिप्पणी—'यहाँ जो पृथ्वी का भार उतारने के लिये पृथिवी पर अवतीर्ण हुआ है वह अपने भार से पृथिवी को और भी भारी बना रहा है' यह कैसे हो सकता है ? यह विरोध प्रतीत होता है । अतः 'त्रिलोकीनाथ ! आप अपने अवतार लेने से पृथिवी को पूज्य बना रहे हैं' यह अर्थ करने से विरोध का परिहार हो जाता है । अतः यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है ॥ ३६ ॥

श्रीकृष्णस्य महीतलावतीर्णत्वेन दर्शनविषयत्वं दर्शयति—

निजौजसोज्जासयितुं जगद्द्रुहामुपाजिहीथा न महीतलं यदि ।
समाहितैरप्यनिरूपितस्ततः पदं दृशः स्याः कथमीश ! मादृशाम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—निजौजसा जगद्द्रुहाम् उज्जासयितुं महीतलं न उपाजिहीथाः यदि ततः समाहितैः अपि अनिरूपितः त्वम् ईश ! मादृशां दृशः पदं कथं स्याः ?

बालबोधिनी—निजौजसा=स्वतेजसा । जगद्द्रुहां=लोकपीडकानाम्, जगद्विद्वेषिणां कंसादीनाम् । उज्जासयितुं=हिंसितुम्, मारयितुम् । महीतलं=पृथिवी-

तलम् । न उपाजिहीथाः = नावतरेः । यदि = चेत् । ततः = तर्हि । समाहितैः = समाधिनिष्ठैः, योगिभिः । अपि । अनिरूपितः = अनवलोकितः, अगृहीतः । त्वं = भवान् । ईश = हे स्वामिन् ! मादृशां = मत्सदृशानां चर्मचक्षुषाम् । दृशः = द्रष्टेः । पदं = गोचरः । कथं = केन प्रकारेण । स्याः = भवेः ? न कथञ्चिदपीत्यर्थः ।

कोशः—'ओजो दीप्तावववष्टम्भे प्रकाशवलयोरपि' इति मेदिनी ।

समासः—जगद्भ्यो द्रुह्यन्तीति जगद्द्रुहः, तेषां जगद्द्रुहाम् (त० पु०) । निजं च तदोजश्चेति निजौजः, तेन निजौजसा (क० त०) । मह्यास्तलं महीतलम् (त० पु०) । अहमिव पश्यन्तीति मादृशाः, तेषां मादृशाम् ।

व्याकरणम्—जगद्द्रुहाम्—'सत्सूद्विष०' (३।२।६१) इत्यादिना क्विप् 'जासिनिप्रहणनाटक्राथयिषां हिंसायाम्' (२।३।५४) इति कर्मणि शेषे षष्ठी । उज्जासयितुम्—उद् + जस् + स्वार्थे णिच् + तुमुन् । उपाजिहीथाः–उप + हा + लङ्—थास् ।

हिन्दी—यदि आप अपने प्रताप से संसार से द्वेष रखने वाले कंसादिकों को मारने के लिये इस पृथिवी पर अवतार नहीं लेते तो हे प्रभो ! योगियों से भी अगम्य आप मुझ जैसे चर्मचक्षु लोगों के दृष्टिगोचर कैसे होते ? ॥ ३७ ॥

श्रीकृष्णस्य जगत्पालनसामर्थ्यमाह—

उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतैस्त्वमेव विश्वम्भर ! विश्वमीशिषे ।
ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—विश्वम्भर ! मदोद्धतैः उपप्लुतम् अदः विश्वं पातुं त्वमेव ईशिषे । क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः क्षालयितुं रवेः ऋते कः क्षमेत ?

बालबोधिनी—विश्वम्भर = हे जगत्पालक ! हे त्रैलोक्यरक्षक ! मदोद्धतैः = दर्पवृद्धैः । उपप्लुतं = पीडितम् । अदः = इदम्, एतत् । विश्वं = जगत् । पातुं = रक्षितुम् । त्वमेव = भवानेव । ईशिषे = समर्थोऽसि । क्षपातमस्काण्डमलीमसं = निशान्धकारसन्तानमलिनम् । नभः = आकाशम् । क्षालयितुं = विशदीकर्तुम्, प्रकाशयितुम् । रवेः = सूर्यात् । ऋते = विना । कः = कः पुरुषः । क्षमेत = शक्नुयात् ? न कोऽपि शक्नुयादित्यर्थः । अत्रैकस्यैव सामान्यधर्मस्य वाक्यद्वये 'ईशिषे' 'क्षमेत' इति द्विधा निर्देशात् प्रतिवस्तूपमालङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे—'प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः । एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥' इति ।

कोशः–'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः' इत्यमरः । 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिपु' इत्यमरः । 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः ।

समासः—विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरः, तत्सम्बुद्धौ हे विश्वम्भर ! मदेन उद्धताः मदोद्धताः, तैः मदोद्धतैः (त० पु०) । तमसः काण्डानि तमस्काण्डानि, क्षपायास्तमस्काण्डानि क्षपातमस्काण्डानि, तैः मलीमसं, तत् क्षपातमस्काण्ड-मलीमसम् ।

व्याकरणम्—उपप्लुतम्—उप + प्लु + कर्मणि क्तः । ईशिषे—ईश् + थल् थास् । क्षालयितुम्—क्षल् + णिच् + स्वार्थे तुमुन् । क्षमेत—क्षम् + लिङ् + ई + त ।

हिन्दी—हे ज़गत्पालक ! मद से उद्धत कंसादि से पीड़ित इस संसार की रक्षा करने के लिए आप ही समर्थ हैं, क्योंकि रात्रि के अन्धकार-समूह से मलिन आकाश को स्वच्छ करने के लिए सूर्य के अतिरिक्त कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ३८ ॥

श्रीकृष्णस्य कंसादितुच्छदानवमारणस्तवनं निन्दैवेति वक्ति—

करोति कंसादिमहीभृतां वधाज्जनो मृगाणामिव यत्तव स्तवम् ।
हरे ! हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया ॥ ३९ ॥

अन्वयः—जनः मृगाणाम् इव कंसादिमहीभृतां वधात् यत् तव स्तवं करोति, हरे ! हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः तव प्रत्युत तिरस्क्रिया (भवति) ।

बालबोधिनी—जनः = लोकः । मृगाणां = हरिणानाम् । इव = यथा । कंसादिमहीभृतां = कंसादिनृपाणाम् । वधात् = मारणात्, हननात् । यत् । तव = भवतः । क्वचिद् 'यस्तव' इति पाठान्तरम्, तत्र यः 'जनः' इत्यस्य विशेषणम् । स्तवं = स्तुतिम् । करोति = विदधाति, विरचयति । हरे ! = हे कृष्ण, हे सिंहेति च गम्यते । क्वचिद् 'हरेः' इति षष्ठ्यन्तं पदं दृश्यते । तत्र—हरेः = सिंहस्य इवेत्यर्थः । सा = स्तुतिक्रिया । हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः = हिरण्याक्षादि-दानवहस्तिरिपोः । तव = भवतः । प्रत्युत = वैपरीत्येन । तिरस्क्रिया = तिर-स्कारः । भवतीति शेषः । उक्तं च—

'मृगारिं वा मृगेन्द्रं वा द्वयं व्याहरतां सताम् ।
तस्य द्वयमपि व्रीडा क्रीडादलितदन्तिनः ॥' इति ॥

अत्र 'असुरद्विपानाम्' इति 'हरिवद्धरिः' इति श्लिष्टपरम्परितरूपकं मृगाणामिवेत्युपमयाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते । उपमा हि रूपकमुपकरोतीति प्रधानम् । रूपकं चोपकार्यमिति अप्रधानम् । अतः द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

कोशः—'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः । 'प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्ये' इति गणव्याख्या । 'स्तवं स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः ।

समासः—महीं बिभ्रतीति महीभृतः, कंस आदिर्येषां ते कंसादयः, कंसादयश्च ते महीभृतश्च कंसादिमहीभृतः, तेषाम् कंसादिमहीभृताम् (ब० व्री० गर्भ त० पु०) । पुरः सरतीति पुरःसरः, द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः, हिरण्याक्ष एव पुरःसरो येषां ते हिरण्याक्षपुरःसराः (ब० व्री०); ते च ते असुराश्च हिरण्याक्षपुरःसरासुराः (क० धा०), ते एव द्विपाः हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपाः, तान् द्वेष्टि इति हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विट्, तस्य हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः (त० पु०) ।

व्याकरणम् -- महीभृतः—मही + भृ + क्विप् + तुक् । तिरस्क्रिया—तिरःपूर्वकात् कृधातोः 'कृञः श च' (३।३।१००) इति शः यक् ।

हिन्दी—लोग मृगों के समान कंसादि राजाओं के वध करने से जो आपकी प्रशंसा करते हैं, हे हरि ! (हे कृष्ण, पक्षान्तर में—हे सिंह !) वह प्रशंसा तो हिरण्याक्षादि दैत्य रूपी हाथियों को मारने वाले आपका अपमान ही है ॥३९॥

एवं स्तुत्या श्रीकृष्णमभिमुखीकृत्यागमनप्रयोजनं वक्तुमारभते—

प्रवृत्त एव स्वयमुज्झितश्रमः क्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामसि ।
तथापि वाचालतया युनक्ति मां मिथस्त्वदाभाषणलोलुपं मनः ॥ ४० ॥

अन्वयः—उज्झितश्रमः (सन्) क्रमेण भुवनद्विषां पेष्टुं स्वयमेव प्रवृत्तः असि । तथापि मिथः त्वदाभाषणलोलुपं मनः मां वाचालतया युनक्ति ।

बालबोधिनी—(त्वम्) उज्झितश्रमः=परित्यक्तपरिश्रमः सन्, अविश्रान्तः सन् । क्रमेण=क्रमशः, पर्यायेण । भुवनद्विषां=जगद्द्रुहाम्, कंसादिदुष्टानाम् । पेष्टुं=विनिहन्तुम्, हिंसितुम् । स्वमेव=आत्मनैव । न केनाऽपि प्रेरित इत्यर्थः । प्रवृत्तः=उद्युक्तः । असि । तथापि=स्वतः प्रवृत्तेऽपि । मिथः=परस्परम्, एकान्ते च । त्वदाभाषणलोलुपं=त्वया सह संलापे समुत्सुकम् । मम मनः=मच्चेतः । मां=निःस्पृहमपि मां नारदम् । वाचालतया=वाचाटतया (सह) । युनक्ति=योजयति । मां वाचालं करोतीति भावः ।

कोशः—'स्यादाभापणमालापः' इत्यमरः । 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः । 'समौ लोलुभलोलुपौ' इत्यमरः ।

समासः—उज्झितः श्रमः येन सः उज्झितश्रमः (ब० व्री०) । भुवनानि द्विषन्तीति भुवनद्विषः, तेषां भुवनद्विषाम् । बह्व्यो वाचोऽस्य सन्तीति वाचालः, तस्य भवो वाचालता, तया वाचालतया । त्वया सह आभाषणं त्वदाभाषणम्, तस्मिन् लोलुपं, तत् त्वदाभाषणलोलुपम् (त० पु०) ।

व्याकरणम्—भुवनद्विषाम्—भुवन + द्विष् + क्विप् 'जासिनिप्रहण०' (२।३।५६) इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी । पेष्टुम्—पिष् + तुमुन् । युनक्ति—युज् + लट्–तिप् । वाचालतया–वाच्शब्दात् - 'आलजाटचौ बहुभाषिणि' (५।२।१२५) इत्यालच्, ततः तल् ।

हिन्दी—थकान (की चिन्ता) को छोड़कर आप क्रम से संसार से द्वेष करने वाले दुष्टों को मारने के लिए स्वयं ही प्रवृत्त हो रहे हैं (अतः इसके लिए पिष्टपेषण के समान कुछ भी कहना निरर्थक है) । तथापि एकान्त में आपके साथ बातचीत करने का इच्छुक मेरा मन मुझे वाचालता से युक्त कर रहा है, अर्थात् मुझे वाचाल बना रहा है ॥ ४० ॥

इन्द्रसन्देशोऽवश्यमेव श्रोतव्य इति सहेतुकमाह—

तदिन्द्रसन्दिष्टमुपेन्द्र ! यद्वचः क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते ।
समस्तकार्येषु गतेन धुर्यतामहिद्विषस्तद् भवता निशम्यताम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तत् उपेन्द्र ! इन्द्रसन्दिष्टं विश्वजनीनं यत् वचः क्षणं मया उच्यते तत् अहिद्विषः समस्तकार्येषु धुर्यतां गतेन भवता निशम्यताम् ।

बालबोधिनी—तदिति वाक्योपसंहारे, किं बहुनोक्तेन, तस्मात् कारणादिति वा । उपेन्द्र = हे इन्द्रानुज ! हे श्रीकृष्ण ! इन्द्रसन्दिष्टम् = इन्द्रकथितम् । विश्वजनीनं = सार्वजनिकम्, सर्वलोकोपकारकम् । यद्वचः = यद्वाक्यम् । क्षणं = मात्रम्, किञ्चित्कालम्, मुहूर्तमेव । मया = नारदेन । उच्यते = कथ्यते । तत् = तद्वचः । अहिद्विषः = वृत्रघ्नः, इन्द्रस्य । समस्तकार्येषु=निखिलकर्त्तव्येषु । धुर्यतां = भारवाहकताम्, धुरन्धरताम् । गतेन = प्राप्तेन । भवता = त्वया श्रीकृष्णेन । निशम्यताम्=श्रूयताम् । अत्र वचनस्येन्द्रसन्दिष्टत्वम्, विश्वजनीनत्वम्, तथा श्रीकृष्णस्येन्द्रसकलकार्यधुरन्धरत्वमिति सर्वेऽपि पदार्थाः सन्देशश्रवणे हेतव इति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।

कोशः—'उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः' इत्यमरः। 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः। 'सर्पे वृत्रासुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती।

समासः—इन्द्रमुपगतः उपेन्द्रः, तत्सम्बुद्धौ हे उपेन्द्र! इन्द्रेण सन्दिष्टम् इन्द्रसन्दिष्टम्। विश्वस्मै जनाय हियं विश्वजनीनम्। समस्तानि च तानि कार्याणि समस्तकार्याणि, तेषु समस्तकार्येषु (क० त०)। अहिं द्वेष्टि इति अहिद्विट्, तस्य अहिद्विषः (त० पु०)। धुरं=भारं वहतीति धुर्यः, तस्य भावः तत्ता, तां धुर्यताम्।

व्याकरणम्—विश्वजनीनम्—विश्वजनशब्दात् 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' (५।१।९) इति खप्रत्ययः, तस्येनादेशः। धुर्यताम्—धुरंशब्दात् 'धुरो यड्ढकौ' (४।४।७७) इति यत्प्रत्ययः, ततः तल्। अहिद्विषः—अहिद्विष् + क्विप्। निशम्यताम्—नि + शम् + कर्मणि लोट् + त + यक्।

हिन्दी—इसलिए उपेन्द्र! इन्द्र के द्वारा सन्देश के रूप में भेजे हुए, सकललोकहितकारक जिस वचन को मैं क्षणभर में कह रहा हूँ, इन्द्र के समस्त कार्यभार को सँभालने वाले आप उसे सुनिए।

टिप्पणी—**धुर्यतां गतेन**—भारवाहकता को प्राप्त हुए। इन्द्र के समस्त कार्यों का भार अपने ऊपर लेकर उन्हें पूर्ण करने वाले। **उपेन्द्र**—इन्द्र के छोटे भाई। इन्द्रादि देवों को पराजित कर तीनों लोकों का आधिपत्य पाने के बाद जब असुरराज बलि यज्ञ करने लगा तब दिति की प्रार्थना से भगवान् विष्णु वामन का रूप धारण करके बलि की यज्ञशाला में पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने तीन पग भूमि बलि से यज्ञावसर पर दान रूप में माँगी। उसके स्वीकार करने पर विष्णु ने तीनों लोकों को विराट् रूप धारण करके केवल तीन पग में नाप लिया। तब सपरिवार बलि को पाताललोक में भेजकर तीनों लोकों का राज्य इन्द्र को दे दिया। उनके इस सत्कार्य से प्रसन्न होकर देवगण उन्हें उपेन्द्र (इन्द्र के छोटे भाई) के पद पर अभिषिक्त कर अपने धाम चले गये (भागवत स्कन्ध ८, अ० १८ से २७)॥ ४१॥

सम्प्रतीन्द्रसन्देशमवतारयति—

अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियो तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते॥ ४२॥

अन्वयः—प्रतिपक्षजन्मनां भियाम् अभूमिः तपनद्युतिः दितेः तनूजः अभूत्। हरेः इन्द्रशब्दार्थनिषूदनं यं हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते।

बालबोधिनी—प्रतिपक्षजन्मनां=शत्रुसमुद्भूतानाम्, विपक्षादागतानाम्। भियां=भीतीनाम्। अभूमिः=अविषयः, निर्भय इति भावः। तपनद्युतिः=सूर्यतेजाः, रविप्रभः। दितेः=कश्यपपत्न्याः। तनूजः=सुतः, दैत्य इति यावत्। अभूत्=बभूव। हरेः=इन्द्रस्य। इन्द्रशब्दार्थनिपूदनम्=इन्द्रपदार्थभूतपरमैश्वर्य-निवर्तकम्। यं=दैत्यम्। हिरण्यपूर्वं कशिपुं=हिरण्यशब्दपूर्वकं कशिपुम्, हिरण्यकशिपुमिति यावत्। प्रचक्षते=कथयन्ति, लोका इति शेषः।

कोशः—'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' इत्यमरः। 'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा विडौजाः पाकशासनः'। 'वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः।

समासः—प्रतिकूलः पक्षो यस्य सः प्रतिपक्षः=शत्रुः, तस्मात् जन्म यासां ताः प्रतिपक्षजन्मानः, तासां प्रतिपक्षजन्मनाम् (ब० व्री०)। तपनस्य द्युतिरिव द्युतिर्यस्यासौ तपनद्युतिः। इन्दति परमैश्वर्यं लभते इति इन्द्रः, स चाऽसौ शब्दश्च इन्द्रशब्दः, तस्य योऽर्थः, तस्य निपूदनः, तम् इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम् (क० त०)। हिरण्यं पूर्वो यस्यासौ हिरण्यपूर्वः, तं हिरण्यपूर्वम् (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—भियाम्—भी+क्विप्। प्रचक्षते—प्र+चक्ष+झ। इन्द्रः—परमैश्वर्यार्थकात् इदिधातोः 'ऋजेन्द्र०' इत्यादिना रन्प्रत्ययान्त औणादिको निपातः नुमागमश्च।

हिन्दी—शत्रुजन्य विभीषिकाओं का अविषय अर्थात् शत्रु से नहीं डरने वाला, सूर्य के समान तेजस्वी दिति का पुत्र (दैत्य) हुआ, जिसे लोग 'परमैश्वर्यवान्' इस शब्द के अर्थ को नष्ट करने वाला 'हिरण्यकशिपु' कहते हैं।

टिप्पणी—पुराणों के अनुसार वैकुण्ठ के द्वारपाल जय और विजय को शापवश राक्षस होना पड़ा। जो प्रथम जन्म में हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु, दूसरे जन्म में रावण और कुम्भकर्ण तथा तीसरे जन्म में शिशुपाल तथा दन्तवक्त्र के रूप में उत्पन्न हुए। उनकी मुक्ति के लिये ही भगवान् को अवतीर्ण होना पड़ा। हिरण्यकशिपु के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये इसी सर्ग के ४७वें श्लोक की टिप्पणी को देखें॥ ४२॥

अथ हिरण्यकशिपोर्दुर्वृत्तं कथयति—

समत्सरेणासुर इत्युपेयुषा चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम्।
भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत॥ ४३॥

अन्वयः—समत्सरेण असुर इति नाम्नः चिराय प्रथमाभिधेयताम् उपेयुषा तरस्विना येन द्युसदां मनःसु भयस्य पूर्वावतरः न्यधीयत।

बालबोधिनी—समत्सरेण = अन्यशुभद्वेषिणा । असुर इति नाम्नः = असुर इत्यभिधानस्य । प्रथमाभिधेयताम् = अन्वर्थतया मुख्याभिधेयताम् । गतेन = प्राप्तेन । तरस्विना = बलवता । येन = हिरण्यकशिपुना । द्युसदः = देवानाम् । मनःसु = चित्तेषु । भयस्य = भीतेः । पूर्वावतरः = प्रथमप्रवेशः, प्रथमप्रादुर्भावः । न्यधीयत = निहितः, विहितः । प्रथमं तत एव देवा बिभ्युरित्यर्थः ।

कोशः—'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमरः । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः ।

समासः–मत्सरेण सहितः समत्सरः, तेन समत्सरेण । अस्यति क्षिपति देवानसौ असुरः = सुरोन्मूलनकर्ता । प्रथमं च तदभिधेयमिति प्रथमाभिधेयम्, तस्य भावस्तत्ता तां प्रथमाभिधेयताम् । अवतरणम् अवतरः, पूर्वश्चासौ अवतरः पूर्वावतरः । दिवि सीदन्ति गच्छन्तीति द्युसदः, तेषां द्युसदाम् ।

व्याकरणम्—तरस्विना—तरस्-शब्दात् 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (५।२।१२१) इति विनिः । असुरः—अस् + उरन् । द्युसदाम्—दिवि + षद् क्विप् । पूर्वावतरः—पूर्व + अव + अप्, 'ॠदोरप्' (३।३।५७) इति अप् प्रत्ययः । न्यधीयत—नि + धा + लङ् + त ।

हिन्दी—दूसरे के शुभ से द्वेष करने वाले तथा असुर इस नाम की बहुत काल के बाद प्रथम वाच्यता को प्राप्त हुए अर्थात् सर्वप्रथम असुर कहे जाने वाले जिस हिरण्यकशिपु ने देवताओं के मन में सर्वप्रथम भय का संचार किया ॥४३॥

हिरण्यकशिपोः दिक्पालविजयमाह—

दिशामधीशांश्चतुरो यतः सुरानपास्य तं रागहृताः सिषेविरे ।
अवापुरारभ्य ततश्चला इति प्रवादमुच्चैरयशस्करं श्रियः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—श्रियः यतः दिशाम् अधीशान् चतुरः सुरान् अपास्य तं रागहृताः (सत्यः) सिषेविरे ततः आरभ्य अयशस्करं चला इति उच्चैः प्रवादम् अवापुः ।

बालबोधिनी—श्रियः = सम्पत्तयः, सम्पदः । यतः = यदा, यस्मात् कालादित्यर्थः । दिशां = पूर्वादीनां काष्ठानाम् । अधीशान् = अधिपतीन्, दिक्पालानपि । चतुरः = चतुःसंख्याकान् । सुरान् = देवान्, इन्द्रयमवरुणकुबेरान् । अपास्य = त्यक्त्वा । तं = हिरण्यकशिपुम् । रागहृताः = रागाकृष्टाः सत्यः । न तु बलादित्यर्थः । सिषेविरे = भेजिरे । तत आरभ्य = ततः प्रभृति । अयशस्करं = अकीर्ति-

करम् । उच्चैः=महान्तम्, प्रचुरम्, सर्वव्यापिनम् । प्रवादं=लोकनिन्दाम् । अवापुः=प्रापुः, लेभिरे ।

कोशः—'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः ।

समासः—रागेण हृताः रागहृताः । न यशः अयशः, अयशः करोतीति अयशस्करः, तम् अयशस्करम् ।

व्याकरणम्—दिशाम्—'ऋत्विक्-दधृक्०' (३।२।५९) इत्यादिना क्विन् । सिषेविरे—सेव+लिट्+इरे । आरभ्य-आ+रभ्+क्त्वा+ल्यप् । अयशस्करम्—अयशस्+कृ+लट् 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' (३।२।२०) इति 'ट' प्रत्ययः 'अतः कृकमि०' (८।३।४६) इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वम् । अवापुः—अव+आप्+लिट्+झि+उस् ।

हिन्दी—लक्ष्मी जिस समय से दिशाओं के स्वामी चार देवताओं (इन्द्र, यम, वरुण, कुवेर) को छोड़कर (दिक्पालों से यह हिरण्यकशिपु अधिक वीर है, इस प्रकार की भावना रूप हिरण्यकशिपु के) अनुराग से आकृष्ट होकर उसकी सेवा करने लगी, अर्थात् उसके पास रहने लगी, तभी से उसने 'लक्ष्मी चञ्चल है' इस दुष्कीर्ति की करने वाली महती लोकनिन्दा को प्राप्त किया ।।४४।।

हिरण्यकशिपुभयाद् देवानां दुर्गादिविधानमाह—

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं बलानि शूराणि घनाश्च कञ्चुकाः ।
स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे ॥ ४५ ॥

अन्वयः—नाकिनां गणैः यम् आशङ्क्य तदादि स्वरूपशोभैकफलानि पुराणि दुर्गाणि चक्रिरे, आयुधं निशातं (चक्रे), बलानि शूराणि चक्रिरे, कञ्चुकाः घनाः (चक्रिरे) ।

बालबोधिनी—नाकिनां=स्वर्गिणाम्, देवानाम् । गणैः=समूहैः । यं=हिरण्यकशिपुम् । तमिति पाठान्तरम्, अर्थस्तु समान एव । आशङ्क्य=बाधकरूपेण सम्भाव्य । तदादि=तदारभ्य, तदाप्रभृति । स्वरूपशोभैकफलानि=स्वरूपशोभैकप्रयोजनानि । क्वचित् 'फलानि' इत्यस्य स्थाने 'गुणानि' इत्यपि पाठः । अर्थस्तु स्पष्ट एव । पुराणि=नगराणि । दुर्गाणि=प्राकारपरिखादिभिरगम्यानि । चक्रिरे=विदधिरे, कृतानि । आयुधं=शस्त्रम् । निशातं=निशितम्, तीक्ष्णम् । चक्रे=विदधे, इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । (तथा) बलानि=सैन्यानि । शूराणि=शौर्यवन्ति । चक्रिरे । कञ्चुकाः=वारणाः, कवचाः । घनाः=सुदृढाः, दुर्भेदाः चक्रिरे । इत्थं हिरण्यकशिपुभयाद् देवाः सन्नद्धा जाग्रतिस्मेत्यर्थः ।

कोशः—'कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री' इत्यमरः। 'पूः स्त्री पुरीनगर्यो वा पत्तनं पुटभेदनम्' इत्यमरः। 'ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाऽनीकिनी चमू। वरूथिनी वलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः।

समासः—स कालः आदिर्यस्मिन् तत् तदादि तद्यथा स्यात्तथा। स्वरूपस्य शोभा स्वरूपशोभा, स्वरूपशोभा एव एकं फलं येषां तानि स्वरूपशोभैकफलानि (त० पु० गर्भ व० व्री०)। नाकोऽस्त्येषां ते नाकिनः, तेषां नाकिनाम्।

व्याकरणम्—निशातम्–नि + शो + क्तः, 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' (७।४।४१) इति इत्वविकल्पात् पक्षे आत्वम्। चक्रिरे—कृ + लिट् + इरे।

हिन्दी—देवगणों ने जिस हिरण्यकशिपु को बाधक समझकर तव से लेकर (तदादि) अर्थात् हिरण्यकशिपु के समय से ही, बाह्य शोभा ही (अब तक) जिनका एकमात्र प्रयोजन रहा था, उन नगरों को दुर्ग (खाई, परकोटा आदि से सुसज्जित कर दुर्गम एवं अजेय किला) वना लिया, अस्त्रों को तीक्ष्ण कर लिया, सेनाओं को शूरवीर बना लिया और कवचों को सुदृढ़ एवं दुर्भेद्य बना लिया। अर्थात् हिरण्यकशिपु के भय से देवगण सब साधनों को युद्ध के योग्य बनाकर सावधान रहने लगे ॥ ४५ ॥

प्रकारान्तरेण हिरण्यकशिपुसमुत्पन्नं देवानां भयमाह—

स सञ्चरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः॥ ४६॥

अन्वयः—भुवनान्तरेषु सञ्चरिष्णुः श्रियः आश्रयः सः यदृच्छया यां दिशम् अशिश्रियत्, मुकुटोपलस्खलत्करैः त्रिदशैः त्रिसन्ध्यं तस्यै दिशे नमः अकारि।

बालबोधिनी—भुवनान्तरेषु = लोकान्तरेषु, त्रिभुवनमध्येषु इति वा। सञ्चरिष्णुः = सञ्चरणशीलः। श्रियः = लक्ष्म्याः। श्रियमिति पाठान्तरे राज्यलक्ष्मीणामित्यर्थः। आश्रयः = आधारः, निवासस्थानम्। सः = हिरण्यकशिपुः। यदृच्छया = स्वैरवृत्त्या, स्वेच्छया। यां दिशं=यां पूर्वादिककुभम्। अशिश्रियत्= असेवत, अगमत्। मुकुटोपलस्खलत्करैः = मौलिमणिसञ्चरद्धस्तैः, किरीटरत्नव्याप्रियमाणपाणिभिः, शिरसि वद्धाञ्जलिभिरित्यर्थः। त्रिदशैः = देवैः। त्रिसन्ध्यं = त्रिष्वपि सन्ध्यासु, सन्ध्यात्रये। तस्यै = हिरण्यकशिप्वाश्रितायै। दिशे = दिशायै। नमः = नमस्कारः। अकारि = कृतम्। उक्तं च—

'हिरण्यकशिपू राजा यां यां दिशमुदैक्षत।
तस्यै तस्यै नमश्चक्रुर्देवा ऋषिगणैः सह॥' इति॥

कोशः—'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः स्वैरता चेति ताः समाः' इत्यमरः। 'उपलः प्रस्तरे रत्ने' इति विश्वः। 'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः। सुपर्वाणः सुमनसस्त्रिदिवेशा दिवौकसः'॥ इत्यमरः।

समासः—अन्यानि भुवनानि भुवनान्तराणि, तेषु भुवनान्तरेषु, अथवा-भुवनानाम् अन्तराणि भुवनान्तराणि, तेषु भुवनान्तरेषु=त्रिभुवनमध्येषु। मुकुटेषु ये उपलाः, तेषु स्खलन्तः कराः येषां तैः मुकुटोपलस्खलत्करैः (त० पु० गर्भ० ब० व्री०)। तिस्रो दशा बाल्यकौमारयौवनानि, जन्मसत्तावृद्धयो वा येषां तैः त्रिदशैः। यद्वा—त्रिदशपरिमाणमेषामिति मल्लिनाथाः। वस्तुतस्तु तृतीया यौवनाख्या दशा येषां ते त्रिदशाः, तैः त्रिदशैः। देवानां सदा पञ्चविंशतिवर्षात्मकत्वेन तृतीयायां दशायां वर्तमानत्वमिति भावः। सम्यक् ध्यायते परमात्मा अस्यां सा सन्ध्या, तिसृणां सन्ध्यानां समाहारस्त्रिसन्ध्यं तत्तथा।

व्याकरणम्—सञ्चरिष्णुः—सम्पूर्वाच्चरधातोः 'अलंकृञ्०'(३।२।१३६) इत्यादिना चरेरिष्णुच् प्रत्ययः। अशिश्रियत्—श्रि+लुङ्+तिप् 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (३।१।४८) इति चङ्, ततो द्वित्वादिकार्यं तत इयङादेशः। अकारि—कृ+कर्मणि लुङ्—त 'चिण् भावकर्मणोः०' (३।१।६६) इति चिण् 'चिणो लुक्' (६।४।१०४) इति चिण्शब्दस्य लुक्।

हिन्दी—अन्यान्य लोकों में अथवा लोकों के मध्य वर्तमान प्रदेशों में घूमने वाला, लक्ष्मी का आश्रय वह हिरण्यकशिपु स्वेच्छापूर्वक जिस दिशा में पहुँचता था (सिर पर पहने हुए) मुकुटों में लगे हुए रत्नों पर हाथ रखे हुए (हाथ जोड़कर सिर पर रखे हुए) देव लोग उस दिशा के लिए तीनों सन्ध्याओं (प्रातः, मध्याह्न तथा सायं) में नमस्कार करते थे।

टिप्पणी—'त्रिर्दशपरिमाणमेषाम् (ते त्रिदशाः)' यह मल्लिनाथ-कृत व्याख्या ठीक प्रतीत नहीं होती है। क्योंकि देवताओं की संख्या तीस नहीं है बल्कि तैंतीस है—१२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र, १ प्रजाप्रति, १ वषट्कार—इस प्रकार सब मिलाकर तैंतीस हुए॥ ४६॥

नृसिंहावतारकृतं हिरण्यकशिपोर्वधमाह—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह ! सैंहीमतनुं तनुं त्वया।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः॥ ४७॥

अन्वयः—नृसिंह ! अतनुं सैंही तनुं बिभ्रता सटाच्छटाभिन्नघनेन त्वया सः मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः नखैः उरोविदारं प्रतिचस्करे।

बालबोधिनी—नृसिंह=हे नरश्रेष्ठ ! हे नृसिंहावतारधारिन्निति च । अतनुं =विस्तीर्णाम्, अतिमहतीम् । सैंहीम् = सिंहसम्बन्धिनीम्, सिंहाकाराम्, तनुं= शरीरम् । बिभ्रता = दधता । नृसिंहावतारभाजेत्यर्थः । सटाच्छटाभिन्नघनेन = केसरसमूहविदारितमेघेन, अभ्रङ्कषशरीरत्वादिति भावः । त्वया = भवता । सः = हिरण्यकशिपुः । मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः = सुन्दरभामिनीकुचसंसर्गभज्यमानैः । नखैः = नखरैः । उरोविदारं = उरो विदार्य । प्रतिचस्करे = हतः, मारितः ।

कोशः—'सटा जटाकेसरयोः' इति विश्वः । 'तनुः काये कृशेऽल्पे च' इति विश्वः । 'मुग्धः सौम्ये नवे मूढे' इति वैजयन्ती । 'पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

समासः—ना सिंह इव नृसिंहः, तत्सम्बुद्धौ हे नृसिंह ! 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (२।१।५६) इति समासः । पक्षे—ना चासौ सिंहश्च नृसिंहः, तत्सम्बुद्धौ हे नृसिंह ! (क० त० पु०) । न तनुः अतनुः, ताम् अतनुम् (नञ् त० पु०) । सिंहस्य इयं सैंही, तां सैंहीम् । सटानां छटाः सटाच्छटाः, ताभिः भिन्ना घनाः येन सः, तेन सटाच्छटाभिन्नघनेन (त० पु० गर्भ० ब० व्री०) । कान्तायाः स्तनौ कान्तास्तनौ, मुग्धौ च कान्तास्तनौ मुग्धकान्तास्तनौ, तयोः सङ्गः मुग्धकान्तास्तनसङ्गः, तेन भङ्गुराः, तैः मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः (त० पु०) । अथवा मुग्धाः याः कान्ताः मुग्धकान्ताः, स्तनयोः सङ्गः स्तनसङ्गः, मुग्धकान्तानां स्तनसङ्गः मुग्धकान्तास्तनसङ्गः, तेन भङ्गुरास्तैः मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः । उरः विदार्येति उरोविदारम् ।

व्याकरणम्—सैंहीम्—सिंह + अण् + ङीप् । उरोविदारम्–उरस् + वि + दृ + णमुल्, 'परिक्लिश्यमाने च' (३।४।५५) इति णमुल्प्रत्ययः । प्रतिचस्करे —प्रतिपूर्वात् कृधातोः कर्मणि लिट् 'ऋच्छत्यृताम्' (७।३।११) इति गुणः, 'हिंसायां प्रतेश्च' (६।१।१४१) इति सुडागमः ।

हिन्दी—हे नृसिंह ! (पुरुषोत्तम तथा सिंह रूप धारी श्रीकृष्णजी), विशाल सिंह शरीर को धारण करते हुए (अतएव) गर्दन के बालों के समूहों से बादलों को छिन्न-भिन्न करने वाले आपने उस हिरण्यकशिपु को नव रमणी के स्तनों के सम्पर्क से भी टेढे हो जानेवाले (अत्यन्त कोमल अपने) नखों से पेट फाड़कर मार डाला ।

टिप्पणी—अपनी कठोर तपस्या से भगवान् शङ्कर को प्रसन्न कर हिरण्यकशिपु नामक दैत्य ने उनसे वरदान माँगा कि मैं किसी नक्षत्र-लग्न, दिन-रात, पक्ष-मास-वर्ष में किसी देव, गन्धर्व, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गादि से नहीं मरूँ। इस वर को पाने के बाद अपने को अवध्य मानकर वह देवताओं और ऋषियों को भी सताने लगा तथा यज्ञादिकों को नष्ट करने लगा। यहाँ तक कि ईश्वर के परम भक्त अपने पुत्र प्रह्लाद को भी ईश्वर-भक्ति न छोड़ने के कारण मारने के लिये अनेक प्रयत्न करने लगा। जब वह प्रह्लाद को किसी प्रकार भी न मार सका, तब उसने एक दिन गोधूलि के समय को खम्भे में बाँधकर स्वयं तलवार से उसका सिर काटना चाहा। इतने में ही भगवान् विष्णु ने नृसिंह रूप धारण कर हिरण्यकशिपु को अपनी गोद में लेकर अपने नखों से उसके वक्षःस्थल को फाड़कर मार डाला। ऐसी पौराणिक कथा है॥ ४७॥

अथाऽस्य जन्मान्तरचेष्टितान्याचक्षाणोऽयमेव जन्मान्तरे रावणो बभूवेति कथयति—

विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः।
स रावणो नाम निकामभीषणं बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः॥ ४८॥

अन्वयः—अथ सः पुनः त्रिदशैः समं रणेन दर्पजन्मनः कण्ड्वाः विनोदमिच्छन् दिवः क्षतरक्षणं निकामभीषणं रावणो नाम रक्षः बभूव।

बालबोधिनी—अथ=स्ववधानन्तरं कदाचित् काले सरति। सः=हिरण्यकशिपुः। पुनः=भूयोऽपि। त्रिदशैः=देवैः। समं=सार्धम्। रणेन=युद्धेन। दर्पजन्मनः=मदोत्थितायाः, अहङ्कारप्रभवायाः। कण्ड्वाः=कण्डूते। विनोदम्=अपनोदम्, विनाशम्। इच्छन्=अभिलषन्। दिवः=स्वर्गस्य। क्षतरक्षणम्=जितपरिपालकम्, अथवा—विनाशितरक्षणम्। अनेन देवसर्वस्वापहारित्वमुक्तम्। निकामभीषणम्=अत्यन्तभयानकम्, नितरां भयङ्करम्। रावणो नाम=रावण इति नामधेयम्, रावणनाम्ना प्रसिद्ध इत्यर्थः। नामशब्दोऽयं प्रसिद्धिद्योतको निपातः। रक्षः=राक्षसः। बभूव=जातः, राक्षसयोनौ सञ्जात इत्यर्थः। तदुक्तं वाल्मीकिरामायणे उत्तरकाण्डे—

'यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम्।
तस्मात् त्वं रावणो नाम नाम्ना वीरो भविष्यसि॥' इति।

अत्र रावणरक्षसोर्नियतलिङ्गत्वाद् विशेषणविशेष्यभावेऽपि स्वलिङ्गता।

कोशः—'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेको स्मयो मदः' इत्यमरः।

समासः—दर्पाज्जन्म यस्याः सा दर्पजन्मा, तस्याः दर्पजन्मनः (ब० व्री०)। भीषयति (भीपयते) इति भीषणम्, निकामं भीपणं निकामभीपणम्, (त० पु०) रक्ष्यते अनेनेति रक्षणम्, क्षतं रक्षणं येन तत् क्षतरक्षणम्, अथवा—क्षताः= निर्जिताः, रक्षिणः=दिवःपालकाः देवा येन तत् (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—विनोदम्—वि+नुद्+घञ्। इच्छन्—इष्+कर्तरि शतृ। रावणः—विश्रवसोऽपत्यं पुमान् रावण इति विग्रहे विश्रवस्शब्दात् 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) इत्यणि कृते 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' (४।१।११२) इति प्रकृतेः रवणादेशः। अथवा—रावयतीति रावणः, रुधातोः ण्यन्तात् कर्तरि ल्युट्। वभूव—भू+लिट्—तिप्—णल्।

हिन्दी—इस (हिरण्यकशिपु की मृत्यु) के बाद वही हिरण्यकशिपु फिर से देवताओं के साथ युद्ध के द्वारा अहङ्कारजन्य खुजलाहट को दूर करने की इच्छा से स्वर्ग की सुरक्षा को नष्ट करने वाला नितान्त भयङ्कर रावण नामक राक्षस हुआ ॥ ४८ ॥

रावणस्य तपःशौर्यं दर्शयति—

प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः शिरोऽतिरागाद् दशमं चिकर्तिषुः।
अतर्कयद् विघ्नमिवेष्टसाहसः प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—यः भुवनत्रयस्य प्रभुः बुभूषुः अतिरागात् दशमं शिरः चिकर्तिषुः इष्टसाहसः इच्छासदृशं पिनाकिनः प्रसादं विघ्नम् इव अतर्कयत्।

बालबोधिनी—यः=रावणः। भुवनत्रयस्य=लोकत्रयस्य। प्रभुः=ईश्वरः, स्वामी। बुभूषुः=भवितुमिच्छुः। अतिरागात्=प्रेमाधिक्यात्, महोत्साहात् न तु विलम्बेन। निर्वेदादिति भावः। दशमं शिरः=दशमं मूर्धानम्। चिकर्तिषुः= कर्तितुमिच्छुः। इष्टसाहसः=प्रियसाहसः। (अत एव) इच्छासदृशं=स्ववाञ्छा-नुकूलम्। पिनाकिनः=शूलपाणेः, शिवस्य। प्रसादं=वरम्। विघ्नमिव= शिरश्छेदनकर्मान्तरायमिव। अतर्कयत्=व्यचारयत्, उत्प्रेक्षितवान्। इत आरभ्य श्लोकषट्केऽपि यच्छब्दस्य 'स रावणो नाम रक्षो बभूवे'ति पूर्वेणान्वयः।

कोशः—'प्रभुः परिवृढोऽधिपः' इत्यमरः। 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्य-मरः। 'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः' इत्यमरः।

समासः—त्रयः अवयवा अस्येति त्रयम्, भुवनानां त्रयं भुवनत्रयम्, तस्य भुवनत्रयस्य। इष्टं साहसं यस्यासौ इष्टसाहसः (ब० व्री०)। समान इव पश्यति

सदृशः, इच्छया सदृशः इच्छासदृशः, तम् इच्छासदृशम् (त० पु०) । पिनाकोऽस्यास्तीति पिनाकी, तस्य पिनाकिनः ।

व्याकरणम्—बुभूषुः—सन्नन्ताद् भूधातोः 'सनाशंसभिक्ष उः' (३।१।१६८) इति उप्रत्ययः । चिकर्तिषुः—कृ+सन्+उः । अतर्कयत्—तर्क+स्वार्थे णिच् +लङ्—तिप् ।

हिन्दी—तीनों लोकों का स्वामी होने की इच्छा करने वाले (अत एव शिवजी की अतिशय प्रसन्नता के लिए) अत्यधिक भक्ति से दशवें सिर को काटने की इच्छा वाले महासाहसी जिस रावण ने इच्छानुकूल शिव के वरदान को विघ्न के समान समझा (वह 'रावण नाम का राक्षस हुआ' ऐसा पूर्वश्लोक १।४८ के साथ अन्वय करना चाहिए) ।

टिप्पणी—एक बार रावण श्रीशङ्कर भगवान् को प्रसन्न करके तीनों लोकों का राजा बनने की इच्छा से अपने सिरों को काट-काटकर अग्नि में हवन करने लगा । इस प्रकार नव (९) सिरों को काटने के बाद जब वह दशवाँ सिर भी काटने लगा तो शिवजी ने प्रसन्न होकर उसको इच्छानुसार वरदान दिया । ऐसी शिवपुराण में कथा है ॥ ४९ ॥

अथ रावणस्य कैलासोत्क्षेपणवृत्तान्तमाह—

समुत्क्षिपन् यः पृथिवीभृतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिनः ।
त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—यः पृथिवीभृतां वरं समुत्क्षिपन् शूलिनः वरप्रदानस्य त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयं चकार ।

बालबोधिनी—यः=यो रावणः । पृथिवीभृतां=भूधराणाम्, पर्वतानाम् । वरं=श्रेष्ठम्, कैलासमित्यर्थः । समुत्क्षिपन्=बलदर्पादुपरि प्रक्षिपन्, उत्तोलयन् । शूलिनः=शिवस्य । वरप्रदानस्य=इष्टवितरणस्य । त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रम-स्वयंग्रहाश्लेषसुखेन = बिभ्यत्पार्वतीसत्वरसभयस्वयंकृतकण्ठग्रहालिङ्गनसुखेन । निष्क्रयं=निष्कृतिम्, विनिमयम्, प्रत्युपकारमिव । चकार=कृतवान् । अत्राश्लेष-सुखवरप्रदानयोर्विनिमयात्परिवृत्तिरलङ्कारः । यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्' इति ।

कोशः—'देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीवं मनाक् प्रिये' इत्यमरः । 'शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः । ईश्वरः शर्व ईशानः शङ्करश्चन्द्रशेखरः' इत्यमरः । 'निष्क्रयो बुद्धियोगे स्यात् सामर्थ्ये निर्गतावपि' इति वैजयन्ती ।

समासः—पृथिवीं बिभ्रतीति पृथिवीभृतः, तेषां पृथिवीभृताम् । शूलमस्यास्तीति शूली, तस्य शूलिनः । वरस्य प्रदानं वरप्रदानम्, तस्य वरप्रदानस्य । त्रसन्ती चाऽसौ तुषाराद्रिसुता च त्रसत्तुषाराद्रिसुता, सम्भ्रमेण सहितः ससम्भ्रमः, ससम्भ्रमश्चासौ स्वयंग्रहश्च ससम्भ्रमस्वयंग्रहः, तेन य आश्लेषः त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेषः, तेन यत् सुखं, तेन त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन (त० पु०) ।

व्याकरणम्—समुत्क्षिपन्–सम् + उत् + क्षिप् + कर्तृ शतृ । पृथिवीभृताम्–पृथिवी + भृ + क्विप् । चकार–कृ + लिट्–तिप्–णल् । शूलिनः–शूल + इनिः ।

हिन्दी—पर्वतश्रेष्ठ कैलाश को ऊपर उठाते हुए जिस रावण ने भयभीत पार्वती के द्वारा घबराहटपूर्वक स्वयं किये गये कण्ठग्रहजन्य आलिङ्गन से उत्पन्न सुख से शिवजी के वर प्रदान का बदला चुका दिया (वह रावण नामक का राक्षस हुआ) ।

टिप्पणी—एक समय क्रीडासक्त रावण कैलास पर्वत को हथेली पर उठाकर उसे गेंद की तरह से उछालने लगा । पर्वत के हिलने से पार्वतीजी डरकर शिवजी के गले से लिपट गईं । इससे शिवजी को अपार सुख हुआ । लेकिन पार्वती के डर को दूर करने के लिए शिवजी ने कैलास को स्थिर करने के लिये उसे अपने वाम चरण के अँगूठे से दबा दिया, जिससे रावण का हाथ उसी के नीचे दब गया । तदनन्तर जब रावण ने शिवताण्डव-स्तोत्र रचकर शङ्करजी की स्तुति की, तो शिवजी ने प्रसन्न होकर अपने चरण को हटा लिया । तब रावण ने अपने हाथ को छुड़ाया । पुराणों में अनेक प्रकार से यह कथा वर्णित है ॥ ५० ॥

रावणस्य स्वर्गलुण्ठनमाह—

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः ।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—बली यः नमुचिद्विषा विगृह्य पुरीम् अवस्कन्द, नन्दनं लुनीहि, रत्नानि मुषाण, अमराङ्गनाः हर, इत्थम् अहर्दिवं दिवः अस्वास्थ्यं चक्रे (स रावणो नाम रक्षो बभूवेति पूर्वेणान्वयः) ।

बालबोधिनी—बली = बलवान् । क्वचित् 'वशी' इति पाठः, तत्र समर्थ इत्यर्थः । यः = रावणः । नमुचिद्विषा = इन्द्रेण सह । विगृह्य = निरुध्य, वैरं विधाय । पुरीम् = अमरावतीम् । अवस्कन्द=पुनः पुनरवरुरोध । नन्दनम्=इन्द्रो-

द्यानम् । लुनीहि=पुनः पुनश्चिच्छेद । रत्नानि=श्रेष्ठवस्तूनि, मणीन् वा । मुषाण=पुनः पुनर्मुमोष, पुनः पुनश्चोरयामास । अमराङ्गनाः=देवाङ्गनाः, अप्सरसो वा । हर=पुनः पुनर्जहार । इत्थम्=अनेन प्रकारेण । अहर्दिवम्=अहन्यहनि, प्रतिदिनम् । क्वचिदहर्निशमिति पाठः, तत्राहोरात्रमित्यर्थः । दिवः=स्वर्गस्य । अस्वास्थ्यम्=उपद्रवम् । चक्रे=चकार ।

श्लोकमिमं केचनैवं व्याख्यायन्ति—

वली=बलवान् । यः=रावणः । नमुचिद्विषा=इन्द्रेण सह । विगृह्य=विरुध्य । अहर्दिवम्=अहन्यहनि । दिवः=स्वर्गस्य । अस्वास्थ्यं चक्रे=पीडां जनयामास । कथं तदित्याह—स हि अनुचरान् प्रत्याह—भोः प्रहस्त ! पुरीम्=अमरावतीम् । अवस्कन्द=निरुन्धि । अयि महोदर ! त्वमितो नन्दनं लुनीहि=छिन्धि । त्वञ्च वाष्कल ! रत्नानि मुषाण=कोषं रिक्तीकुरु । त्वं पुनः कुम्भकर्ण ! अमराङ्गनाः हर=सुरवनिताः वन्दीकुरु । इत्थं सोऽस्वास्थ्यं चक्रे ।

अत्र स्वर्गस्यास्वास्थ्यकरणेऽनेकक्रियाणामवस्कन्दादीनां हेतुत्वेनोपादानात् समुच्चयोऽलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्करणं भवेत् । समुच्चयोऽसौ' इति ।

कोशः—'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम् । स्थानीयं निगमः' इत्यमरः । 'नगरी त्वमरावती' इत्यमरः । 'नन्दनं वनमि'त्यमरः । 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः । 'जम्भभेदी हरिहयः स्वराण्नमुचिसूदनः' इत्यमरः ।

समासः—न मुञ्चतीति नमुचिः, नमुचिं द्वेष्टीति नमुचिद्विट्, तेन नमुचिद्विषा । अहनि च दिवा च अहर्दिवम् । स्वस्थस्य भावः स्वास्थ्यम्, न स्वास्थ्यम् अस्वास्थ्यम् (नञ् त० पु०) । बलमस्यास्तीति बली ।

व्याकरणम्—अवस्कन्द लुनीहि इत्यादौ सर्वत्र 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' (३।४।२) इत्यनुवृत्तौ 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' (३।४।३) इति विकल्पेन कालसामान्ये लोट् तत्प्रयुक्तं तिङादिकार्यं च ।

हिन्दी—जिस बलवान् रावण ने इन्द्र से विरोध करके बार-बार इन्द्र की नगरी अमरावती को घेर लिया, (इन्द्र के) नन्दन वन को बार-बार काट डाला, रत्नों को पुनः-पुनः लूटा और देवाङ्गनाओं का (भी) बार-बार अपहरण किया । इस प्रकार उसने स्वर्ग को पीड़ित कर डाला । वह रावण नाम का राक्षस हुआ ॥ ५१ ॥

रावणभयेनेन्द्रस्यातिशयकातरत्वं दर्शयति—

सलीलयातानि न भर्तुरभ्रमोर्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम् ।
अनुद्रुतः संयति येन केवलं बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—संयति येन अनुद्रुतः बलस्य शत्रुः अभ्रमोः भर्तुः सलीलयातानि न प्रशशंस, उच्चैःश्रवसः चित्रं पदक्रमं न (प्रशशंस) केवलं शीघ्रताम् एव (प्रशशंस) ।

बालबोधिनी—संयति = युद्धे । येन = रावणेन । अनुद्रुतः = अनुधावितः । बलस्य = बलाख्यासुरस्य । शत्रुः = रिपुः, इन्द्र इत्यर्थः । अभ्रमोः = दिक्करिण्याः । भर्तुः = स्वामिनः, स्वगजस्य ऐरावतस्येत्यर्थः । सलीलयातानि = सभङ्गीकान् पदविन्यासान् । न प्रशशंस = न साधुवादेन तुष्टाव । किञ्च—उच्चैःश्रवसः = तन्नाम्नः स्वाश्वस्य । चित्रं = नानाविधम् । पदक्रमं = पादविक्षेपम्, पदन्यासम्, अर्घपुलायितादिगतिविशेषमिति मल्लिनाथाः । न प्रशशंस = न तुष्टाव । (किन्तु) केवलम् = एकाम् । शीघ्रतामेव = शीघ्रगामित्वमेव । प्रशशंस = तुष्टाव ।

कोशः—'समुदायः स्त्रियां संयतसमित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः । 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः' इत्यमरः । 'हय उच्चैःश्रवाः' इत्यमरः ।

समासः—लीलया सहितानि सलीलानि, सलीलानि च तानि यातानि सलीलयातानि । पदयोः क्रमः पदक्रमः, तं पदक्रमम् (त० पु०) ।

व्याकरणम्—अनुद्रुतः—अनु + द्रु + क्तः । संयति—सम् + यम् + क्विप् । प्रशशंस—प्र + शंस् + लिट्—तिप्—णल् । शीघ्रताम्—शीघ्र + तल् ।

हिन्दी—जिस रावण के द्वारा पीछा किये जाते हुए (अनुद्रुतः), बल के शत्रु इन्द्र ने ऐरावत के विलासपूर्वक गमन की (तथा) उच्चैःश्रवा नामक अपने घोड़े की नाना प्रकार की (दुलकी, कदम, छरलक, पोइथी आदि) चालों की (भी) प्रशंसा नहीं की, किन्तु उनकी शीघ्र गति की ही प्रशंसा की, (वह रावण नाम का राक्षस हुआ) ॥ ५२ ॥

रावणभयात्पलाय्यान्तर्हितस्येन्द्रस्य उलूकसादृश्यमाह—

अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अधीरलोचनः कौशिकः सहस्ररश्मेः इव यस्य दर्शनं सोढुम् अशक्नुवन् हेमाद्रिगुहागृहान्तरं प्रविश्य बिभ्यत् दिवसानि निनाय (स रावणो नाम रक्षो बभूव) ।

बालबोधिनी—अधीरलोचनः=चञ्चलनयनः, अस्थिरदृष्टिः। कौशिकः=महेन्द्रः, उलूकश्च। सहस्ररश्मेः=सहस्रांशोः, सूर्यस्य। इव=यथा। यस्य=रावणस्य। दर्शनं=प्रेक्षणम्, विलोकनम्। सोढुं=मर्षयितुम्। अशक्नुवन्=अपारयन्, असमर्थः सन्। हेमाद्रिगुहागृहान्तरं=मेरुपर्वतकन्दरानिकेतनमध्यम्। प्रविश्य=प्रवेशं कृत्वा, अध्यास्य, तत्र तत्र स्थित्वा। (तत्रापि) बिभ्यत्=भीतः सन्, त्रस्यन्। दिवसानि=वासराणि। निनाय=यापयामास, अतिवाहयामास। अत्रानेकार्थस्य कौशिकशब्दस्य प्रकरणेन महेन्द्ररूपेऽर्थे नियन्त्रिते सति व्यञ्जनयैव उलूकरूपो द्वितीयोऽर्थो बोध्यते। स चाप्राकरणिकत्वादसम्बद्धो मा प्रासङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय इति शब्दशक्तिमूल उपमाध्वनिः, स च सहस्ररश्मेरिवेत्युपमानस्य साधक इति वाच्यसिद्धयङ्गं नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यम्।

कोशः—'लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी। दृग्दृष्टी' इत्यमरः। 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः। 'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः' इत्यमरः।

समासः—अधीरे लोचने यस्याऽसौ अधीरलोचनः (ब० व्री०)। सहस्रं रश्मयो यस्यासौ सहस्ररश्मिः, तस्य सहस्ररश्मेः (ब० व्री०)। हेम्नः अद्रिः हेमाद्रिः, तस्य गुहैव गृहं हेमाद्रिगुहागृहम्, तस्यान्तरं, तद् हेमाद्रिगुहागृहान्तरम्।

व्याकरणम्—अशक्नुवन्—न शक्नुवन् अशक्नुवन्—शक्+शतृ+नुम्। बिभ्यत्—भी+कर्तरि शतृ—द्वित्वम् 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुमभावः। निनाय—नी+लिट्—तिप्—णल्। प्रविश्य—प्र+विश्+क्त्वा—ल्यप्।

हिन्दी—(अस्थिर नेत्र वाले उल्लू की तरह) चञ्चल आँखों वाले इन्द्र ने (पक्षान्तर में–इन्द्र के समान चञ्चल नेत्र वाले उलूक नामक पक्षी ने) सूर्य के समान (परम तेजस्वी) जिस रावण के दर्शन को सहन करने में असमर्थ होते हुए सुमेरु पर्वत की गुफा रूपी घर के अन्दर घुसकर डरते हुए दिनों को बिताया (वह रावण नाम का राक्षस हुआ)।

टिप्पणी—दिन में जैसे उल्लू सूर्य के भय से बाहर नहीं निकलता है, उसी तरह इन्द्र भी रावण के भय से बाहर न निकलकर सुमेरु पर्वत की गुफा के अन्दर रहकर ही दिनों को बिताता था॥ ५३॥

विष्णोश्चक्रमपि रावणं प्रति विफलमिति दर्शयति—

बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः ।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात् विकीर्णलोलाग्निकणम् अप्रसहिष्णु वैष्णवं चक्रं जगत्प्रभोः सुरद्विपः अस्य अधिकन्धरं न अक्रमत ।

बालबोधिनी-बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात्=विशालपाषाणकठोरकण्ठाभिघातात् । विकीर्णलोलाग्निकणं=विक्षिप्तचपलस्फुलिङ्गम् । अत एव अप्रसहिष्णु=अनभिभावकम्, असमर्थं वा । वैष्णवं=विष्णोः सम्बन्धिनं । चक्रं=रथाङ्गम्, सुदर्शनचक्रमित्यर्थः । जगत्प्रभोः=लोकस्वामिनः । सुरद्विपः=अमरारेः । अस्य=रावणस्य । अधिकन्धरम्=अधिग्रीवम् । न अक्रमत=न क्रमतेस्म, न प्रावर्त्तत । क्वचिद् घट्टनादित्यस्य स्थाने 'घट्टना' इति पाठस्तत्र संश्लेष इत्यर्थः । विग्रहस्तु समासे द्रष्टव्यः । 'सुरद्विषः' इत्यस्य स्थाने सुरद्विषामिति पाठे, 'सुरद्विषामि'-त्यस्य 'प्रभोः' इत्यनेन सम्बन्धः कार्यः, तस्य 'असुराणां स्वामिनः' इति चार्थः । किञ्चास्मिन् पाठान्तरे जगच्छब्दस्य 'अप्रसहिष्णु' इत्यनेन सम्बन्धो विधेयः । जगदप्रसहिष्णु=भुवनान्यभिभविष्णु, क्रुद्धं सज्जगदपि भस्मीकर्तुं समर्थमित्यर्थः । 'एवमस्मिन् व्याख्याने न वस्तुनि दोषो न शब्दे' इत्यपि केषाञ्चिन्मतम् ।

कोशः—'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः । 'त्रिपु स्फुलिङ्गोऽग्निकणः' इत्यमरः । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । 'अथ चक्रं सुदर्शनम्' इत्यमरः । 'प्रहसनमभिभवः' इति वृत्तिकारः ।

समासः—शिलेव निष्ठुरः शिलानिष्ठुरः, शिलानिष्ठुरश्चासौ कण्ठश्चेति शिलानिष्ठुरकण्ठः, बृहंश्चासौ शिलानिष्ठुरकण्ठश्च बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठः, तत्र घट्टनं, तस्मात् बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात् (त० पु०) । यद्वा बृहत्पदं शिलाविशेषणम् । तत्र बृहती चाऽसौ शिला बृहच्छिला, सेव निष्ठुरः बृहच्छिलानिष्ठुरः, स चाऽसौ कण्ठश्च तत्र घट्टनं तस्मादिति विग्रहः कर्त्तव्यः । विकीर्णाः लोलाः अग्निकणाः यस्य, तस्मात् येन वा तथोक्तम्—विकीर्णलोलाग्निकणम् (ब० व्री०) । यत्र घट्टनादित्यस्य स्थाने 'घट्टना' इति पाठः, तत्र 'घट्टना' इत्यस्य विकीर्णेत्यादिना सम्बन्धः कार्यः । तथा न बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठे या घटना, तया विकीर्णा लोला अग्निकणा येन तत्तथोक्तमिति विग्रहो विधेयः । सुरान् द्वेष्टि इति सुरद्विट्, तस्य सुरद्विषः । न प्रसहिष्णु (नञ्० त० पु०) । विष्णोरिदं वैष्णवम् । कन्धरायामिति अधिकन्धरम् (अव्ययीभावः) ।

व्याकरणम्—बृहत्—बृह + शतृ 'महद्बृहज्जगच्छतृवच्च' इति निपातः। अप्रसहिष्णु–न + प्र + सह + इष्णुच्। अक्रमत–क्रम + लुङ् + त 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' (१।३।३८) इति वृत्तावात्मनेपदम् (वृत्तिरप्रतिबन्धः)। सुरद्विषः–सुर + द्विष् + क्विप्। वैष्णवम्—विष्णु + इदमर्थेऽण्।

हिन्दी—विशाल शिला के समान कठोर (रावण के) कण्ठ में टक्कर लगने से जिसमें से चञ्चल चिनगारियाँ निकल रही हैं (तथा रावण की गर्दन पर) कोई प्रभाव न डालने वाला (अप्रसहिष्णु) विष्णु भगवान् का सुदर्शन चक्र (भी) संसार के स्वामी, देवताओं के शत्रु इस रावण की गर्दन पर प्रयुक्त नहीं हो सका। अर्थात् रावण की गर्दन पर विष्णु के चक्र ने कोई प्रभाव नहीं डाला।

पाठान्तर में—विशाल शिला के समान कठोर (रावण के) कण्ठ में टक्कर लगने से जिसमें से चञ्चल चिनगारियाँ निकल रही हैं तथा जो संसार को अभिभूत करने वाला है, उस विष्णु के सुदर्शन चक्र ने दैत्यों के स्वामी इस रावण की गर्दन पर कोई प्रभाव नहीं डाला॥ ५४॥

रावणस्य कुबेरविजयं दर्शयति—

विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन्मुहुर्मदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः।
निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं प्रकम्पयामास न मानसं न सः॥ ५५॥

अन्वयः—सः मदेन दन्ती इव विभिन्नशङ्खः कलुषीभवत् निरस्तगाम्भीर्यम् अपास्तपुष्पकं मनुष्यधर्मणः मानसं मुहुः न प्रकम्पयामास (इति) न।

बालबोधिनी—सः=रावणः। मदेन=दर्पेण, दन्तिपक्षे–इभदानेन। दन्ती =गजः। इव=यथा। विभिन्नशङ्खः=विनाशितशङ्खनिधिः, दन्तिपक्षे—विघट्टितकम्बुः। कलुषीभवत्=क्षुभ्यत्, क्षोभं गच्छत्, पक्षान्तरे—आविलीभवत्। निरस्तगाम्भीर्यम्=निर्धूताविकारित्वम्, पक्षान्तरे—व्यपगतागाधत्वम्। किञ्च—अपास्तपुष्पकं=व्यपगतपुष्पकविमानम्, पक्षान्तरे—निरस्तकुसुमम्, विध्वस्तकुसुमम्। मनुष्यधर्मणः=कुबेरस्य। मानसं=चित्तम्, पक्षान्तरे—तदीयं मानसनामकं सरोवरञ्च। मुहुः=पुनः पुनः। न प्रकम्पयामास न=न क्षोभयामास इति न, किन्तु प्रकम्पयामासैवेति भावः। अत्र श्लेषगर्भितपूर्णोपमालङ्कारः। यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमाद्वयोः। सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च। उपमेयं चोपमानं च भवेद्वाच्यम्' इति।

कोशः—'मदो दर्पेभदानयोः'. इति विश्वः। 'कुबेरस्त्र्यम्बकसखो यक्षराड्

गुह्यकेश्वरः । मनुष्यधर्मा धनदो राजराजो धनाधिपः ॥' इत्यमरः । 'मानसं सरसि स्वान्ते' इति विश्वः ।

समासः—विभिन्नः शङ्खः येनाऽसौ विभिन्नशङ्खः (ब० व्री०) । न कलुषम् अकलुषम्, अकलुषं कलुषं सम्पद्यमानं भवत् कलुषीभवत् । निरस्तं गाम्भीर्यं यस्य तत् निरस्तगाम्भीर्यम् (ब० व्री०) । अपास्तानि पुष्पाणि (पुष्पकं विमानं च) यस्मात् तत्तथाभूतम् अपास्तपुष्पकम् । मनुष्यस्येव धर्मो यस्य स मनुष्यधर्मा, तस्य मनुष्यधर्मणः ।

व्याकरणम्—दन्ती—दन्त + इनिः । कलुषीभवत्–कलुष् + च्विः + भू + शतृ । अपास्तपुष्पकम्—अपास्तपुष्पक + कप् । प्रकम्पयामास—प्र + कम्प + णिच् + लिट्—तिप्—णल् । मनुष्यधर्मा—मनुष्य + धर्म + अनिच् 'धर्मादनिच् केवलात्' (५।४।१२४) इति ।

हिन्दी—मद (अभिमान, पक्षान्तर में—मदजल) से शङ्ख (शङ्ख नामक निधि-विशेष, पक्षान्तर में–कम्बु) को तोड़ने वाले हाथी के समान उस रावण ने कलुषित (क्षुब्ध), पक्षान्तर में—पङ्किल होते हुए (एवं) जिसकी गम्भीरता (कष्टादि आने पर सहनशीलता, पक्षान्तर में—अगाधता) नष्ट हो गई है तथा जिससे पुष्पक विमान हटा दिया (छीन लिया) गया है (पक्षा०— जिसके कमलादि फूल नष्ट कर दिये गये हैं) उस कुबेर के मन को (पक्षा०- मानसरोवर को बार-बार नहीं कँपाया हो ऐसा नहीं है (अपितु उसने निश्चय ही कुबेर के मन को बार-बार कम्पित किया) ।

टिप्पणी—जैसे मदोन्मत्त (हाथी ऐरावतादि) साफ-सुथरे गहरे तथा फूलों से लहलहाते हुए मानसरोवर को अपने मदजल से गँदला करते हुए तथा उस सरोवर में मिट्टी आदि डालकर उसकी अगाधता को दूर करते हुए शङ्ख तथा फूलादिकों को तोड़ते हुए उसे चञ्चल बना देता है, उसी प्रकार अभिमानपूर्वक उस रावण ने कुबेर की शङ्ख नामक निधि को लूटकर उसकी गम्भीरता को दूर करते हुए तथा उसके पुष्पक विमान का अपहरण करते हुए (अत एव) व्याकुल बने हुए कुबेर के मन को बार-बार कँपाया ।

शङ्ख–(१) एक विशेष प्रकार की मछली के शरीर की हड्डी होती है। अथवा—मदवाले हाथी की कपाल की उस हड्डी का नाम है, जो हाथी के एक गण्डस्थल से दूसरे गण्डस्थल तक फैली हुई होती है। युवावस्था में जब यह विकसित हो जाती है तब हाथी के कपोलों से मदवारि बहने लगता है। (२)

दूसरे पक्ष में—शङ्ख कुवेर की नौ निधियों में से एक निधि का नाम है। कुवेर की ९ निधियों के नाम ये हैं—

'महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव॥' इति॥

पुष्पक—(१) पुष्पों का समूह, (२) कुवेर का विमान, जो उस पर बैठे हुए मनुष्य की इच्छा पर चलता था। इसे कुवेर को जीतकर रावण ने प्राप्त किया। रावण को मारने के वाद राम को यह विमान भेंट किया गया था, जिस पर बैठकर रामचन्द्रजी सव वानरों सहित अयोध्या लौटे थे।

मानस—(१) मन, (२) मानसरोवर। ब्रह्माजी ने इसका निर्माण अपने मन से किया था, इसीलिये इसका नाम मानस पड़ा। ऐसी पौराणिक कथा है॥ ५५॥

रावणस्य वरुणविजयं दर्शयति—

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे॥ ५६॥

अन्वयः—रणेषु प्रचेतसा प्रहिताः उरगराजरज्जवः यस्य सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः (अत एव) सभयाः जवेन प्रहर्तुः एव कण्ठं प्रपेदिरे।

बालबोधिनी—रणेषु=युद्धेषु। प्रचेतसा=वरुणेन। प्रहिताः=प्रयुक्ताः। उरगराजरज्जवः=महासर्परज्जवः, नागपाशा इत्यर्थः। तस्य=रावणस्य। सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः=सरोषहुङ्कृतिपरावर्तिताः। अत एव—सभयाः=भयसहिताः, ससाध्वसाः (सत्यः)। जवेन=वेगेन, सत्वरम्। प्रहर्तुः=प्रहारकर्तुः प्रहारकस्य वरुणस्यैव। कण्ठम्=गलम्। प्रपेदिरे=सम्प्राप्ताः। अत्र शत्रुविनाशप्रयुक्तस्य शस्त्रस्य वैपरीत्येन स्वकण्ठग्रहणादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः···तद् विषमं मतम्' इति।

कोशः—'प्रचेताः वरुणः पाशी यादसां पतिरप्पतिः' इत्यमरः। 'उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशन' इत्यमरः। 'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' इत्यमरः।

समासः—उरगाणां राजानः उरगराजाः, उरगराजा रज्जव इव उरगराजरज्जवः, हुङ्कारणं हुङ्कारः, रोषेण सहितं सरोषम्. सरोषं यथा स्यात्तथा हुङ्कारः सरोषहुङ्कारः, परांचि मुखानि यासां ताः पराङ्मुखाः, न पराङ्मुखाः अपराङ्मुखाः, अपराङ्मुखाः पराङ्मुखाः सम्पद्यमानाः कृताः पराङ्मुखीकृताः, सरोषहुङ्कारेण पराङ्मुखीकृताः सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः। भयेन सहिताः सभयाः।

व्याकरणम्—प्रहितः—प्र + हि + क्तः । प्रहर्तुः—प्र + हृ + कर्तरि तृच् । पराङ्मुखीकृताः—पराङ् + मुख + च्वि + कृ + क्तः । प्रपेदिरे—प्र + पद + लिट्—झ—इरे ।

हिन्दी—युद्ध में रावण के द्वारा फेंके गये (रावण को बाँधने के लिये छोड़े गये परन्तु रावण के द्वारा) क्रोधपूर्वक हुङ्कार से लौटाये गये, रस्सों के समान सर्पराज (अर्थात् नागपाश नामक शस्त्र) भयभीत होकर छोड़ने वाले वरुण के ही गले को वेगपूर्वक प्राप्त हुए (अर्थात् वरुण के कण्ठ में आकर लिपट गये) ॥ ५६ ॥

रावणस्य यमविजयं दर्शयति—

परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः ।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरादुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—अमुना धनुः विधातुम् उत्खातविषाणमण्डलः परेतभर्तुः महिषः भारे हृते अपि महतः त्रपाभरात् भृशानतं शिरः दुःखेन उवाह ।

बालबोधिनी—अमुना=रावणेन । धनुः=शाङ्र्गम्, चापम् । विधातुं= निर्मातुम् । उत्खातविषाणमण्डलः=उत्पाटितशृङ्गवलयः । परेतभर्तुः=प्रेताधिपस्य यमस्य । महिषः=यमराजस्य वाहनभूतः सैरिभः, लुलायः । भारे=विषाण-मण्डलरूपे भारे । हृतेऽपि=उत्सारितेऽपि । महतः=बृहतः, दुर्भरात् । त्रपा-भरात्=लज्जाभरात् । भृशानतं=अत्यर्थनम्रम् । शिरः=मूर्धानम्, मस्तकम् । दुःखेन=क्लेशेन । उवाह=वहतिस्म, दधार । अत्र भारे हृतेऽपि भृशानत-मिति विरोधः । तदनुप्राणिता चेयं त्रपाभरस्य शिरोनमनहेतुत्वेनोत्प्रेक्षा ।

कोशः—'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'धर्मराजः पितृपतिः समवर्ती परेतराट् ! कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराड् यमः' ।

समासः—विषाणयोर्मण्डलं विषाणमण्डलम्, उत्खातं विषाणमण्डलं यस्याऽसौ उत्खातविषाणमण्डलः (त० पु० गर्भ० ब० व्री०) । परेतानां भर्ता परेतभर्ता, तस्य परेतभर्तुः (त० पु०) । त्रपैव भरः त्रपाभरः, तस्मात् त्रपाभरात् । भृशं यथा स्यात्तथा आनतं भृशानतम्, तत्तथाभूतम् ।

व्याकरणम्—विधातुम्—वि + धा + तुमुन् । परेतभर्तुः—परेत + भृ + तृच् । महतः—मह + अतिप्रत्ययः शतृवद्भावः । उवाह—वह + लिट्—तिप्-

णल्, 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) इति कित्त्वात् 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) इति सम्प्रसारणम् ।

हिन्दी—इस रावण के द्वारा धनुष बनाने के लिए जिसके शृङ्गमण्डल को उखाड़ लिया गया है, उस यमराज के भैंसे ने (सींगों के) भार के हट जाने पर भी मानों लज्जा के महान् भार से अत्यन्त झुके हुए (अपने) सिर को कष्टपूर्वक धारण किया ॥ ५७ ॥

रावणस्य सूर्यविजयमाह—

स्पृशन् सशङ्कः समये शुचावपि स्थितः कराग्रैरसमग्रपातिभिः ।
अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैरलञ्चकारास्य वधूरहस्करः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अहस्करः शुचौ समये स्थितः अपि असमग्रपातिभिः कराग्रैः सशङ्कः स्पृशन् अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः अस्य वधूः अलञ्चकार ।

बालबोधिनी—अहस्करः=दिनकरः, सूर्यः । शुचौ समये=ग्रीष्मकाले, शुद्धे आचारे । स्थितोऽपि=अवस्थितोऽपि, वर्तमानोऽपि च । असमग्रपातिभिः= असमस्तपतनशीलैः, सङ्कुचितवृत्तिभिः । कराग्रैः=किरणाग्रैः, हस्ताग्रैश्च । सशङ्कः =सभयः । स्पृशन्=आमृशन्, संस्पृशंश्च । अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः=अनुष्णस्वेदजबिन्दुमुक्ताफलैः । अस्य=रावणस्य । वधूः=अङ्गनाः । अलञ्चकार= अभूषयत । अत्र प्रस्तुतसूर्यविशेषणसाम्यादप्रस्तुतप्रसाधकप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'परोक्तिभेदकैः श्लिष्टैः समासोक्ति' इति ।

कोशः—'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोरपि । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्' इति विश्वः । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः ।

समासः—शङ्कया सहितः सशङ्कः । कराणाम् अग्राणि कराग्राणि, तैः कराग्रैः (त० पु०) । समग्रं पतन्ति समग्रपातीनि, न समग्रपातीनि असमग्रपातीनि, तैः असमग्रपातिभिः (नञ् त० पु०) । घर्मस्य उदकम् घर्मोदकम्, तस्य बिन्दवः घर्मोदकबिन्दवः, न घर्माः अघर्माः, अघर्माश्च ते घर्मोदकबिन्दवश्च अघर्मघर्मोदकबिन्दवः, ते एव मौक्तिकानि अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकानि, तैः अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः ।

व्याकरणम्—अहस्करः—अहन्=कृ 'दिवाविभानिशा०' (३।२।२१) इत्यादिना उप्रत्ययः, 'अतः कृकमिकंसकुम्भ०' (८।३।४६) इत्यादिना सत्वम् । असमग्रपातिभिः—असमग्र+पत्+ताच्छील्ये णिनिः । अलञ्चकार—अलं+कृ +लिट्–तिप्–णल् ।

हिन्दी—ग्रीष्मकाल में (पक्षा०—शुद्ध आचरण में) वर्तमान होता हुआ भी सूर्य पूरी-पूरी न गिरने वाली अपनी किरणों के अग्र भाग से (हाथों के अग्रभाग से) शङ्का सहित स्पर्श करता हुआ इस रावण की स्त्रियों को शीतल स्वेदविन्दु रूप मोतियों से अलङ्कृत करता था।

टिप्पणी—जिस प्रकार कोई नर्मसचिव (प्रसाधक) शुद्धाचरण होता हुआ भी रानियों को, 'यदि राजा मुझे हाथ बढ़ाये हुए देख लेंगे तो रुष्ट हो जायेंगे' इस भय से अच्छी तरह हाथ बढ़ाकर नहीं छूते हुए मोतियों से रानियों को सजाता है, उसी प्रकार आषाढ़ मास होने पर सूर्य रावण के भय से अपनी सम्पूर्ण किरणों से उसकी रानियों को स्पर्श नहीं करता था, किन्तु थोड़ा-सा तपता था, जिससे रावण की सुकुमारी स्त्रियों के मुखादि पर मोतियों के समान पसीने की बूँदें उन्हें शोभित कर देती थीं। रावण के भय से ग्रीष्मकाल में भी सूर्य अधिक गर्मी नहीं करता था ॥ ५८ ॥

रावणस्य चन्द्रविजयमाह—

कलासमग्रेण गृहानमुञ्चता मनस्विनीरुत्कयितुं पटीयसा।
विलासिनस्तस्य वितन्वता रतिं न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना ॥ ५९ ॥

अन्वयः—कलासमग्रेण गृहान् अमुञ्चता मनस्विनीः उत्कयितुं पटीयसा रतिं वितन्वता इन्दुना विलासिनः तस्य नर्मसाचिव्यं न अकारि (इति) न।

बालबोधिनी—कलासमग्रेण=सम्पूर्णकलेन, पक्षान्तरे–सकलशिल्पकलाकुशलेन। गृहान्=रावणसौधानि। अमुञ्चता=अपरित्यजता, सदा तद्गृहेष्वेव निवासता। मनस्विनीः=मानिनीः। उत्कयितुं=उत्कण्ठयितुम्, सोत्सुकाः कर्तुम्। पटीयसा=चतुरेण, मानिनीमानभङ्गदक्षेण। कुतः ? रतिः=सुरतानुरागम्। एकत्र=रावणस्य, अपरत्र—स्वामिनः। वितन्वता=वर्द्धयता। एकत्र =चन्द्रिकाभिरपरत्र, चतुरोक्तिभिरित्यर्थः। इन्दुना=चन्द्रेण। विलासिनः =शृङ्गारिणः। तस्य=रावणस्य। नर्मसाचिव्यं=नर्मसचिवंता, सुरतक्रीडासचिवत्वम्। न अकारि=न कृतम्। इति न, अपितु कृतमेवेति भावः। अत्र प्रकृतस्येन्दोरप्रकृतेन नर्मसचिवेन श्लेषः। अत्र नर्मसचिवः पीठमर्दक एव। तल्लक्षणं यथा—

'सेवाऽभिज्ञः कलादक्षः शुचिवेश्मरतः सदा।
स्यान्नर्मसचिवस्तस्य कुपितस्त्रीप्रसादकः ॥' इति ॥

कोशः–'काले शिल्पे वित्तवृद्धौ चन्द्रांशे कलने कला' इति वैजयन्ती। 'क्रीडा

लीला च नर्म च' इत्यमरः। हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदवान्धवः' इत्यमरः।

समासः—कलाभिः समग्रः कलासमग्रः, तेन कलासमग्रेण। सचिवस्य भावः कर्म वा साचिव्यम्, नर्मणि साचिव्यं नर्मसाचिव्यम् (त० पु०)। विलसितुं शीलमस्येति विलासी, तस्य विलासिनः।

व्याकरणम्—अमुञ्चता—न+मुञ्च+शतृ। उत्कयितुम्—उत्कशब्दात् 'उत्क उन्मनाः' (५।२।८०) इति निपातनात् 'तत्करोति०' (ग०) इति ण्यन्तात्तुमुन्प्रत्ययः। मनस्विनीः—मनस्+विनिः। पटीयसा—पटु+ईयसुन्। वितन्वता+वि+तनु+शतृ। साचिव्यम्—सचिव+ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। अकारि—कृ+कर्मणि लुङ्।

हिन्दी—कलाओं (१६ कलाओं, पक्षा०—सकल ६४ कामकलाओं) से परिपूर्ण उस रावण के घर को न छोड़ने वाले तथा मानिनी स्त्रियों को (उनका मान दूर करके पतियों से मिलने के लिए) उत्कण्ठित करने में निपुण एवं (अपनी चन्द्रिका से, पक्षा०—चतुरता पूर्ण उक्तियों से) रावण के प्रेम को बढ़ाते हुए चन्द्रमा ने विलासी उस रावण के नर्मसचिव (सुरतक्रीडा में सहायक) का कार्य नहीं किया, ऐसा नहीं, अपितु किया ही ।। ५९ ।।

रावणस्य गणेशविजयं दर्शयति—

विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनमनेन मानिना।
न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति ।। ६० ।।

अन्वयः—मानिना अनेन विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनं जातु उद्धृतं वैनायकम् एकं विषाणम् अद्यापि पुनः न प्ररोहति।

बालबोधिनी—मानिना=अहङ्कारिणा। अनेन=रावणेन। विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया=चतुरविलासिनीधारणोचितदन्तमयकर्णभूषणनिर्माणेच्छया। क्वचिद् 'विधित्सया' इत्यस्य स्थाने 'चिकीर्षया' इति पाठस्तत्रापि स एवार्थः। नूनं=निश्चितम्। जातु=कदाचित्। उद्धृतम्=उत्पाटितम्, उत्खातम्। वैनायकं=विनायकसम्बन्धि, गाणपतम्। एकम्=अद्वितीयम्। विषाणं=दन्तः। अद्यापि=इदानीमपि, बहुतिथे काले गतेऽपीत्यर्थः। पुनः=भूयः। न प्ररोहति=न प्रादुर्भवति। अत्र 'रावणेनैव विनायक एकदन्तः कृत' इत्युत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः। सा चोत्प्रेक्षा नूनमित्यनेन व्यज्यते इति वाच्योत्प्रेक्षा।

कोशः—'विषाणं पशु-शृङ्गे स्यात्क्रीडाद्विरददन्तयोः' इत्यमरः। 'कदाचिज्जातु' इत्यमरः।

समासः—मानोऽस्यास्तीति मानी, तेन मानिना। विदग्धाः लीलाः यासां ताः विदग्धलीलाः, अथवा—विदग्धानां लीलाः विदग्धलीलाः, तासामुचिताः विदग्धलीलोचिताः, विदग्धलीलोचिताश्च ताः दन्तपत्रिकाश्च: विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाः, विधातुमिच्छा विधित्सा, विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाणां या विधित्सा, तया विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया। विनयति अपाकरोति विघ्नानिति विनायकः, विनायकस्येदं वैनायकम्।

व्याकरणम्—विधित्सया—वि + धा + सन्। मानिना—मान + इनिः। वैनायकम्—विनायक + अण्। उद्धृतम्—उद् + धृ + क्तः। प्ररोहति—प्र + रुह + लट्—तिप्।

हिन्दी—इस अहंकारी रावण के द्वारा चतुर लीला वाली स्त्रियों के योग्य दन्तपत्रिका (कान का भूषण जिसे तरकी कहते हैं) बनाने की इच्छा से किसी समय उखाड़ा गया गणेशजी का एक दाँत आज तक भी फिर नहीं उगा है।

टिप्पणी—प्राचीन आख्यानों के अनुसार परशुरामजी के साथ युद्ध करने में गणेशजी का एक दाँत टूट गया था॥ ६०॥

रावणस्य वायुवशीकारमाह—

निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसाप्यूरुषु लोलचक्षुषः।
प्रियेण तस्यानपराधबाधिताः प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः॥ ६१॥

अन्वयः—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा अपि ऊरुषु लोलचक्षुषः तस्य प्रियेण प्रकम्पनेन अनपराधबाधिताः सुराः अनुचकम्पिरे।

बालबोधिनी—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसाऽपि = अन्तःपुरविलासिनीजनान्तरीयचालनस्पष्टापराधेनाऽपि। ऊरुषु=विलासिनीकमनीयसक्थिषु। लोलचक्षुषः=सतृष्णनेत्रस्य। तस्य=रावणस्य। प्रियेण=कृपापात्रेण। प्रकम्पनेन=वायुना। प्रभञ्जनेनेति पाठान्तरेऽपि समान एवार्थः। अनपराधबाधिताः=अपराधाऽभावेऽपि पीडिताः राजपुरुषैरिति शेषः। सुराः=देवाः। अनुचकम्पिरे=अनुकम्पिताः, प्रार्थनादिना गृहीता इत्यर्थः। एकस्य चातुर्याद् बहवो जीवन्तीति भावः।

कोशः—'निशान्तं गृहशान्तयोः' इति विश्वः। 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके' इत्यमरः। 'प्रकम्पनो महावातः' इत्यमरः। 'सक्थिक्लीबे पुमानूरुः' इत्यमरः।

समासः—निशान्ते नार्यः निशान्तनार्यः, तासां परिधानानि निशान्तनारीपरिधानानि, तेषां धूननं निशान्तनारीपरिधानधूननम्, तेन स्फुटः आगो यस्य सः, तेन निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा। लोले चक्षुषी यस्य सः लोलचक्षुः, तस्य लोलचक्षुषः। अनपराधे बाधिताः अनपराधबाधिताः।

व्याकरणम्—धूननम्—धूञो ण्यन्तात् ल्युट् 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' इति वार्तिकेन नुक्। प्रकम्पनेन—प्र + कम्पि + ल्युट्। अनुचकम्पिरे—अनु + कम्पि + लिट्—झ—इरेच्।

हिन्दी--अन्तःपुरः की नारियों की साड़ियों को उड़ाने के कारण स्पष्ट अपराध वाले भी (किन्तु नग्न जघना स्त्रियों की) जङ्घाओं पर सतृष्ण दृष्टि वाले रावण के कृपापात्र वायु ने बिना अपराध के ही (राजपुरुषों द्वारा) पीड़ित देवों पर अनुकम्पा कराई ॥ ६१ ॥

रावणस्याग्निविजयमाह—

तिरस्कृतस्तस्य जनाभिभाविना मुहुर्महिम्ना महसां महीयसाम्।
बभार बाष्पैर्द्विगुणीकृतं तनुस्तनूनपाद्धूमवितानमाधिजैः॥ ६२॥

अन्वयः—तस्य जनाभिभाविना महीयसां महसां महिम्ना मुहुः तिरस्कृतः तनुः तनूनपात् आधिजैः वाष्पैः द्विगुणीकृतं धूमवितानं बभार।

बालबोधिनी—तस्य = रावणस्य। जनाभिभाविना = लोकतिरस्कारिणा। महीयसां = अतिमहताम्। महसां=तेजसाम्। महिम्ना = माहात्म्येन, गौरवेण। मुहुः = पुनः पुनः, भृशम्। तिरस्कृतः = अभिभूतः, पराभूतः। अत एव—तनुः =कृशः। तनूनपात् = अग्निः। आधिजैः=मानसव्यथोत्पन्नैः। बाष्पैः=निःश्वासोष्मभिः। द्विगुणीकृतं = द्विरावृतम्, द्विगुणतां नीतम्, घनीभूतम्। धूमवितानं =धूमपुञ्जम्, धूममण्डलम्। बभार=धारयामास, दध्रे। अत्र धूमद्वैगुण्यसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धकथनात् सम्बन्धातिशयोक्तिः। तदुक्तं कुवलयानन्दे–'सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम्' इति।

कोशः—'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इत्यमरः। 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जयः। कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूनपात्' ॥ इत्यमरः। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियाऽमुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती।

समासः—जनमभिभवतीति जनाभिभावी, तेन जनाभिभाविना। अतिशयेन महान्ति महीयांसि, तेषां महीयसाम्। महतो भावो महिमा, तेन महिम्ना। तनूं न पातयति (जाठररूपेण शरीरं धारयति) इति तनूनपात्। आधेर्जातानि

अधिजातानि, तैः आधिजैः। द्वौ गुणौ अस्येति द्विगुणम्, अद्विगुणं द्विगुणं सम्पद्यमानं कृतं द्विगुणीकृतम्। धूमस्य वितानं धूमवितानम्।

व्याकरणम्—जनाभिभाविना—जन + अभि + भू + णिनिः। महीयसाम्—महत् + ईयसुन्। महिम्ना—महच्छब्दात्–'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२२) इति इमनिच् प्रत्ययः। तनूनपात्—'न भ्राट्०' (६।३।७५) इत्यादिसूत्रेण निपातनान्नञो नलोपाभावः। तिरस्कृतः—तिरस् + कृ + क्तः। द्विगुणीकृतम्—द्वि + गुण + च्वि + कृ + क्तः। बभार—भृ + लिट्–तिप्–णल्।

हिन्दी—उस रावण के समस्त जनों का तिरस्कार करने वाले तथा अत्यन्त महान् तेज की महिमा से बार-बार तिरस्कृत होकर अत एव कृश हुए अग्नि ने मानसिक दुःखों से उत्पन्न आँसुओं के कारण दुगुने बने हुए धूमसमूह को धारण किया॥ ६२॥

रावणस्य नागलोकविजयं वर्णयति—

परस्य मर्माविधमुज्झतां निजं द्विजिह्वतादोषमजिह्मगामिभिः।
तमिद्धमाराधयितुं सकर्णकैः कुलैर्न भेजे फणिनां भुजङ्गता॥ ६३॥

अन्वयः—इद्धं तम् आराधयितुं परस्य मर्माविधं निजं द्विजिह्वतादोषम् उज्झतां फणिनाम् अजिह्मगामिभिः सकर्णकैः कुलैः भुजङ्गता न भेजे।

बालबोधिनी—इद्धं = दीप्तम्, उग्रमित्यर्थः। तं = रावणम्। आराधयितुं = सेवितुम्। परस्य = स्वेतरस्य, जनान्तरस्य। मर्माविधं = मर्मवेधकम्, हृदयादिमर्मस्थलपीडकम्। सूचकपक्षे—कुलाचारादिभेदकम्, परदोषोद्घाटनेन परमव्यथकम्। निजं = स्वकीयम्। द्विजिह्वतादोषं = दशनात्मकं सर्पत्वदोषम्, दृष्टिविषत्वादिकं वा। सूचकपक्षे—पिशुनतारूपं दोषम्। उज्झतां = त्यजताम्। फणिनाम् = सर्पाणाम्। अजिह्मगामिभिः = ऋजुगामिभिः। सूचकपक्षे—करचरणादिमद्विग्रहधारित्वात् सरलगतिभिः, अकपटचारिभिर्वा। सकर्णकैः = चक्षुःश्रवस्त्वं विहाय आविष्कृतकारणैरित्यर्थः। सूचकपक्षे–सनियामकैः। कुलैः = समूहैः। भुजङ्गता = सर्पत्वम्। सूचकपक्षे–विटत्वम्। न भेजे = न सिषेवे, किन्तु त्यक्तैवेत्यर्थः। अत्र प्रस्तुतसर्पविशेषसाम्यादप्रस्तुतखलव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। लक्षणन्तूक्तमेव।

कोशः—'द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ' इत्यमरः। 'भुजङ्गो विटसर्पयोः' इति हलायुधः।

समासः—मर्माणि विध्यतीति मर्मावित्, तं मर्माविधम्। द्वे जिह्वे स्तो येषां ते द्विजिह्वाः, तेषां भावो द्विजिह्वता, तस्या यो दोषः, त द्विजिह्वतादोषम्। फणाः सन्ति येषां ते फणिनः, तेषां फणिनाम्। जिह्मं गच्छन्तीति जिह्मगामिनः, न जिह्मगामिनः अजिह्मगामिनः, तैः अजिह्मगामिभिः। कर्णाभ्यां सह वर्तन्ते इति सकर्णकाः, तैः सकर्णकैः। सूचकपक्षे—कर्णयन्ति सर्वं शृण्वन्ति इति कर्णकाः, तैः सहितैः सकर्णकैः। भुजाभ्यां गच्छन्तीति भुजङ्गाः, तेषां भावो भुजङ्गता। पिशुन-पक्षे—भुजं कुटिलं गच्छन्तीति भुजङ्गाः, तेषां भावो भुजङ्गता।

व्याकरणम्—मर्माविधम्-मर्मन् + व्यध + क्विप् 'ग्रहिज्या०' (६।१।१६) इत्यादिना सम्प्रसारणम्। 'नहि वृति०' (६।३।११६) इत्यादिना दीर्घः। उज्झताम्—उज्झ + कर्तरि शतृ। इद्धम्—इन्धी + कर्तरि क्तः। आराधयितुम्—आ + राध + णिच् + तुमुन्। अजिह्मगामिभिः—अजिह्म + गम् + ताच्छील्ये णिनिः। भेजे—भज + लिट् + कर्मणि त—एश्।

हिन्दी—उग्र स्वभाव वाले उस रावण की सेवा करने के लिये दूसरों का मर्मवेधन (हृदय आदि मर्मस्थल को डँसना-काटना, चुगलखोर पक्ष में—कलाचारादि को नष्ट करना) रूप अपने द्विजिह्वता दोष (कटी जीभ वाला होना या दशनादि सर्प का अवगुण, पक्षान्तर में—चुगलखोरी) को छोड़ने वाले तथा कुटिल न चलने वाले (सीधा चलने वाले, पक्षान्तर में—कपटरहित व्यवहार करने वाले) एवं कर्णयुक्त (नेत्रश्रवता को छोड़कर श्रोत्रयुक्त, पक्षान्तर में—नियामक सहित हो जाने वाले) सर्पों के समूह ने, पक्षा०—खलों ने भुजङ्गता (सर्पत्व, पक्षा०—कुटिलता) को ग्रहण नहीं किया अर्थात् छोड़ दिया।

टिप्पणी—रावण के भय से सर्प तथा चुगलखोरों ने अपने-अपने दोषों को छोड़ दिया। **द्विजिह्वता**—(१) दो अर्थात् बीच से कटी हुई जीभ रखना, जैसा कि सर्पों की द्विजिह्वा प्रसिद्ध है। (२) चुगलखोरी आदि से भरी हुई दो प्रकार की बात कहना, पिशुनता रूप दोष। **सकर्णकैः**—(१) 'कर्णाभ्यां सह वर्तन्ते इति सकर्णकाः'—अर्थात् कान रखने वाले। ऐसा कहा जाता है कि सर्पों के कान नहीं होते। अतः उन्हें 'चक्षुःश्रवसः' नेत्र रूप कर्ण वाला या आँखों से सुनने वाला कहा जाता है। रावण के शासन-काल में सर्पों ने भी कानों को धारण किया, जिससे वे अपने कर्त्तव्यों का भली प्रकार श्रवण करके उनका पालन कर सकें। (२) 'कर्णकेन सह वर्तन्ते इति सकर्णकैः'=अर्थात् नियामक

सहित। कर्णक—जो प्रत्येक बात को सुनता है। किन्तु किसी से प्रभावित नहीं होता है, अर्थात् चुगलखोरों के कहने में नहीं आता है। चुगलखोरों ने रावण के नियन्त्रण में चुगली करना छोड़ दिया, क्योंकि वे नियामक (रावण) से युक्त थे, अर्थात् उसकी सेवा में थे। अतः उनको चुगली करने का साहस नहीं होता था ॥ ६३ ॥

रावणगजकृतदिग्गजविजयेन रावणस्य सकलभुवनविजयमाह—

तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः।
गृहीतदिक्कैरपुनर्निवर्तिभिश्चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः गृहीतदिक्कैः अपुनर्निवर्तिभिः दिग्गजैः चिराय याथार्थ्यम् अलम्भि।

बालबोधिनी—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः=रावणीयकुञ्जरपङ्क्तिप्रेरितैः =रावणगजसमूहाभिहतैः। अत एव—कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः=गण्डस्थलापगतमदजलैः। गृहीतदिक्कैः=आश्रितदिग्भिः, पलाय्य गृहीतदिगन्तैरित्यर्थः। अपुनर्निवर्तिभिः=पुनरागमनरहितैः। दिग्गजैः=दिशामातङ्गैः, ऐरावतादिभिः। चिराय=चिरेण, कल्पान्तं यावत्। याथार्थ्यम्=अन्वर्थत्वम्, दिक्षु स्थिताः गजाः दिग्गजा इति नाम्नः सार्थकत्वम्। अलम्भि=लब्धम्, अधिगतम्।

कोशः—'गजानां घटना घटा' इत्यमरः। 'गण्डः कटो मदो दानम्' इत्यमरः। 'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः। 'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः। पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः' ॥ इत्यमरः। 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः।

समासः—तस्येमे तदीयाः, तदीयाश्च ते मातङ्गाः तदीयमातङ्गाः, तेषां याः घटाः ताभिः विघट्टिताः, तैः तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः (त० पु०)। कटस्थलेभ्यः प्रोषितानि दानवारीणि येषां तैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः (ब० व्री०)। गृहीताः दिशः यैस्तैः गृहीतदिक्कैः (ब० व्री०)। न पुनर्निवर्तन्ते इति अपुनर्निवर्तिनः, तैः अपुनर्निवर्तिभिः (नञ् त० पु०)। अर्थमनतिक्रम्येति यथार्थमाह, यथार्थस्य भावः याथार्थ्यम्। दिक्षु स्थिता गजा दिग्गजाः, तैः दिग्गजैः, शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपिसमासः।

व्याकरणम्—गृहीतदिक्कैः—गृहीत+दिश 'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति कप्प्रत्ययः। अपुनर्निवर्तिभिः—न पुनर्–नि+वृतु+णिनिः। याथार्थ्यम्–

यथार्थ + अर्शादित्वान्मत्वर्थेऽच् ततः ष्यञ् । अलम्भि—लभेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् 'विभाषा चिण्णमुलोः' (७।१।६७) इति विकल्पान्नुमागमः ।

हिन्दी—रावण के गजसमूह से ताडित अतएव जिनके गण्डस्थल से मद-जल दूर हो गया है तथा जिन्होंने (भागकर) अपनी दिशाओं को ग्रहण कर लिया है और जो (रावण के हाथियों के भय से) पुनः नहीं लौटे, उन दिग्गजों ने चिरकाल तक (दिग्गज नाम की) यथार्थता को प्राप्त किया ॥ ६४ ॥

रावणस्य सुराङ्गना-विलासमाह—

अभीक्षणमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैर्यथा ।
सचन्दनाम्भःकणकोमलैस्तथा वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सोष्मणः तस्य वपुः अभीक्ष्णम् उष्णैः अपि सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः यथा निर्ववौ तथा सचन्दनाम्भःकणकोमलैः जलार्द्रापवनैः न निर्ववौ ।

बालबोधिनी—सोष्मणः=कामज्वरसहितस्य । तस्य=रावणस्य । वपुः=शरीरम् । अभीक्ष्णम्=अत्यन्तम्, भृशम् । उष्णैरपि=सन्तप्तैरपि । सुरेन्द्रबन्दी-श्वसितानिलैः=सुराधिपवन्दीभूतसुन्दरीनिःश्वासपवनैः । यथा=यादृशम् । निर्ववौ=निर्वृत्तम्, शान्तिमाप । तथा=तादृशम् । सचन्दनाम्भःकणकोमलैः=चन्दनसहितजलबिन्दुमृदुभिः । जलार्द्रापवनैः=जलोक्षिततालवृन्तवायुभिः । न निर्ववौ=नानन्दं लेभे । अत्रोष्णनिःश्वासरूपकारणेन सन्तापनिवृत्तिरूपस्य विरुद्ध-कार्यस्योत्पत्तिवर्णनाद् विषमालङ्कारः । तदुक्तं कुवलयानन्दे—'विरूपकार्यस्यो-त्पत्तिरपरं विषमं मतम्' इति ।

कोशः—'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे' इति वैजयन्ती । 'त्रवित्रं तालवृन्तं स्यादु-त्क्षेपं व्यञ्जनं च तत् । जलेनार्द्रं जलार्द्रा स्यात्' इति वैजयन्ती । 'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम् । पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम् ॥ कबन्धमुदकं पाथः पुष्करं सर्वतोमुखम् । अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बु-शम्वरम्' ॥ इत्यमरः ।

समासः—उष्मणा सहितः सोष्मा, तस्य सोष्मणः । सुराणामिन्द्रः सुरेन्द्रः, तस्य या वन्द्यः सुरेन्द्रवन्द्यः, तासां यानि श्वसितानि, तेषां अनिलास्तैः सुरेन्द्र-वन्दीश्वसितानिलैः (त० पु०) । चन्दनेन सहितानि सचन्दनानि, तानि च तानि अम्भांसि सचन्दनाम्भांसि, तेषां कणाः तैः ये कोमलाश्च तैः सचन्दनाम्भः-कणाः, ते च ते कोमलाश्च तैः सचन्दनाम्भःकणकोमलैः । जलार्द्रायाः पवनाः जलार्द्रापवनाः, तैः जलार्द्रापवनैः (त० पु०) ।

व्याकरणम्—निर्ववौ—निर्+वा+लिट्—तिप्—णल्।

हिन्दी—कामज्वर से सन्तप्त उस रावण का शरीर (दुःख के कारण) अत्यन्त गर्म इन्द्र की वन्दिनी बनाई गई सुन्दरियों के निःश्वास वायु से जितना आनन्दित हुआ, उतना चन्दनयुक्त जलकणों से मृदु एवं मनोहर जल से सिक्त पंखे की वायु से आनन्दित नहीं हुआ।

टिप्पणी—इस श्लोक पर एक अन्य टीकाकार ने बड़ा अकाण्ड ताण्डव किया है। विद्वान् टीकाकार ने वन्दी शब्द का अर्थ बाँदियाँ किया है, जो उनकी साहित्यशास्त्र के सूक्ष्म तत्त्वों की अनभिज्ञता को प्रकट करता है। विजयी राजा हारे हुए राजादिकों की स्त्रियों को ही अपहरण करके अपने यहाँ रखा करते हैं, न कि विजितों की दासियों को। क्योंकि दूसरे राजाओं की दासियों को पकड़वाकर अपने घरादि में रखना विजयी राजा की अत्यन्त तुच्छता को प्रकट करता है। यदि कहें कि रावण कामी एवं विलासी है तो भी एक लोक-विजयी राजा के लिए विजित राजाओं की स्त्रियों को ही अपने यहाँ रखना उचित हो सकता है। दासियों (बाँदियों) को नहीं। दूसरे नारदजी रावण के लोकातिशायी पराक्रम को एवं स्वाभिमानता का कथन कर रहे हैं, जो कि देवों की नारियों को वन्दी बनाने से ही प्रकट होता है, न कि बाँदियों को, क्योंकि देवाङ्गनाओं को वन्दी बनाने का अर्थ है—देवों को पराजित करना एवं अत्यन्त तुच्छ समझना।

टीकाकार ने रावण के कामज्वर की शान्ति में देवाङ्गनाओं के गर्म श्वासों की उपयुक्तता इसलिये कही है कि वे गर्म हैं और गर्म वस्तु का उपचार ज्वर में लाभप्रद है, न कि चन्दनादि शीतल पदार्थों का उपचार। इस प्रकार तो उनके मत में रावण के जेल में पड़े हुए पीड़ित पुरुषों के गर्म श्वास भी रावण के कामज्वर को शान्त करनें में समर्थ होंगे; क्योंकि वे भी तो गर्म ही हैं? अहह ?? कैसा सुन्दर समाधान है ??? वास्तविक बात तो यह है कि कामज्वर की शान्ति तो कामिनियों से अथवा—इन स्त्रियों की चेष्टाओं या क्रियाओं से ही हो सकती है, गर्म वस्तुओं से नहीं। इसलिये 'बन्दीश्वसितानिलैः' बन्दीभूत सुन्दरियों की श्वासों से, ऐसा कहा ॥ ६५ ॥

रावणस्य कालविजयमाह—

तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—सदा प्रसूनक्लृप्तिं दधतः ऋतवः वर्षाः तपेन, हिमागमः शरदा, शिशिरः वसन्तलक्ष्म्या च समेत्य अस्य पुरे वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ।

बालबोधिनी—सदा = सर्वकाले, नित्यम्, न तु यथाकालमित्यर्थः । प्रसूनक्लृप्तिं = पुष्पसम्पत्तिम् । दधतः = धारयन्तः, बिभ्रतः । क्वचित् 'प्रसूनक्लृप्तं ददतः' इति पाठस्तत्र—प्रसूनं = पुष्पफलं तदेव क्लृप्तं = भाटकं, ददतः = ददानाः । ऋतवः = वसन्तादयः षड् ऋतवः । वर्षाः = प्रावृट् ऋतुः स्त्री । तपेन = ग्रीष्मेन पुंसा । हिमागमः = हेमन्तर्तुः पुमान् । शरदा = शरदृतुना नार्या सह । शिशिरः = शिशिरर्तुः भर्ता । वसन्तलक्ष्म्या = वसन्तर्तुशोभया पत्न्या सह । चेति समुच्चये । पुरे = नगरे, लङ्कायामित्यर्थः । वास्तव्यकुटुम्बितां = प्रतिवासित्वम्, नागरिकताम् । ययुः = प्रापुः । क्वचित् 'दधुः' इति पाठः, अर्थे तु न विशेषः । अत्र पुरे युगपत्सर्वर्तुसम्बन्धाभिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः, लक्षणं तु प्रागेवोक्तम् ।

कोशः—'स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इत्यमरः । 'उष्ण ऊष्मागमस्तपः' इत्यमरः । 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा अथ शरत्स्त्रियाम्' इत्यमरः ।

समासः—हिमस्य आगमः यस्मिन् सः हिमागमः (ब० व्री०) । वसन्तस्य लक्ष्मीः वसन्तलक्ष्मीः, तया वसन्तलक्ष्म्या (त० पु०) । प्रसूनानां क्लृप्तिः प्रसूनक्लृप्तिः, तां प्रसूनक्लृप्तिम् । वसन्तीति वास्तव्याः, कुटुम्बानि सन्ति एषामिति कुटुम्बिनः, वास्तव्याश्च ते कुटुम्बिनः वास्तव्यकुटुम्बिनः, तेषां भावः, तां वास्तव्यकुटुम्बिताम् ।

व्याकरणम्—दधतः—धा + शतृ—अभ्यस्तत्वान्नुमभावः । समेत्य–सम् + इ + क्त्वा—ल्यप् । ययुः—या + लिट्—झि—उस् ।

हिन्दी—सदा (अपने-अपने नियत समय से अतिरिक्त समय में भी) पुष्पश्री को धारण करते हुए छः ऋतुएँ—ग्रीष्म से वर्षा, शरद् से हेमन्त और वसन्त की शोभा से शिशिर ऋतु (दाम्पत्य भाव से) मिलकर इस रावण की नगरी (लङ्कापुरी) में बसने वाले कुटुम्बियों के भाव (दाम्पत्य भाव या नागरिकता को प्राप्त कर लिया । अर्थात् लङ्कापुरी के कुटुम्बी बन गये ।

टिप्पणी—यहाँ श्रीमाघ ने दो-दो ऋतुओं के मिलने का वर्णन किया है । इसमें से एक अर्थात् कोमल कान्ति वाली ऋतु (वर्षादि) का वाचक शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग किया है तथा द्वितीय प्रचण्ड ऋतु (तप = ग्रीष्म, आदि)

वाचक शब्द पुंल्लिङ्ग में प्रयोग किया है। इससे दाम्पत्य भाव प्रगट होता है। वर्षा, शरद् और वसन्त से स्वभावतः पुष्पसमृद्धि होती है। ये तीनों क्रमशः ग्रीष्म, हेमन्त और शिशिर से मिलती हैं तो ऋतुएँ पुष्पसमृद्धि से युक्त हो जाती हैं॥ ६६॥

'स चाऽऽसन्नमृत्युः तुभ्यमपि द्रुग्ध्वा त्वयैव हतः' इति वक्तुकामः प्रथमं तस्य रामदारापहारकत्वं दर्शयति—

अमानवं जातमजं कुले मनोः प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः।

मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः सदाभिमानैकधना हि मानिनः॥ ६७॥

अन्वयः—अमानवम् अजं मनोः कुले जातं प्रभाविनम् (भवन्तम्) आत्मनः अन्तं भाविनं जानन् अपि यः जानकीं न मुमोच, हि मानिनः सदा अभिमानैकधनाः भवन्ति।

बालबोधिनी—अमानवम्=अमानुषम्। अजं=नित्यम्। मनोः=एतन्नामकस्य राजर्षेः। कुले=वंशे, सूर्यवंशे इत्यर्थः। जातम्=उत्पन्नम्, रामचन्द्ररूपेणावतीर्णम्, विरुद्धं चैतत्–यो हि जातः स कथमजो भवेत्? यश्च मनुवंशे समुत्पन्नः सः कथममानवः? इति विरोधं समापतति। स चाभासत्वेन विरोधाभासोऽलङ्कारः। अत एवाह—प्रभाविनं=महाप्रभावशालिनम्। महाप्रभावे तस्मिन्न कश्चिद्विरोध इति भावः। भवन्तमिति शेषः। आत्मनः=स्वस्य, रावणस्येत्यर्थः। अन्तं=विनाशकम्। भाविनं=भविष्यन्तम्। जानन्नपि=त्वत्तो विदन्नपि। यः=रावणः। जानकीं=जनकसुताम्, भवत्पत्नीं सीतामित्यर्थः। न मुमोच=न तत्याज। हि=यतः। मानिनः=मानवन्तः। सदा=सर्वदा। अभिमानैकधनाः=अभिमानमात्रसाराः। भवन्तीति शेषः। ते हि मृत्यावपि प्राप्ते मानं न त्यजन्तीति भावः। अत्र कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि। कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते। साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा मतः॥' इति।

कोशः—'मानश्चित्तसमुन्नतिः' इत्यमरः। 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः' इत्यमरः।

समासः—मनोरयं मानवः, न मानवः अमानवः, तम् अमानवम् (नञ् त० पु०)। प्रकृष्टो भावः प्रभावः, सोऽस्यातीति प्रभावी, तं प्रभाविनम्। अवश्यं भविष्यतीति भावी, तं भाविनम्। जनकस्यापत्यं स्त्री जानकी, तां जानकीम्। अन्तं करोति—अन्तयति इति अन्तः, तम् अन्तम्। अभिमान एव एकं धनं येषां ते अभिमानैकधनाः।

व्याकरणम्—जानन् = ज्ञा + कर्तरि शतृ । प्रभाविनम्—प्रभाव + इनिः णिनिर्वा । जानकीम्–जनक + अण् + ङीष् । मुमोच—मुच + लिट् + तिप्—णल् ।

हिन्दी—मानव भिन्न तथा जन्मरहित (होते हुए भी मनुष्य रूप में—) मनु के कुल में उत्पन्न तथा अत्यन्त प्रभावशाली आपको अपना अवश्य ही मारने वाला जानते हुए भी जिस रावण ने सीता को नहीं छोड़ा । क्योंकि मानी पुरुषों का अभिमान ही मुख्य धन होता है ॥ ६७ ॥

रावणस्य रामावतारे कृतं वधं वर्णयति—

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन् भवानमुं वनान्ताद् वनितापहारिणम् ।
पयोधिमाबद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति ॥६८॥

अन्वयः—भवान् दाशरथिः भवन् वनान्तात् वनितापहारिणम् अमुम् आबद्धचलज्जलाविलं पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति अदः स्मरति किम् ?

बालबोधिनी—भवान् = त्वम् । दाशरथिः = दशरथापत्यं रामः । भवन् = सन् । वनान्तात् = दण्डकारण्यात् । वनितापहारिणम् = सीतापहर्तारम् । अमुं = रावणम् । आबद्धचलज्जलाविलं = बद्धसेतुत्वाच्चञ्चलजलपङ्किलम् । आविद्धचलज्जलाविलामिति पाठे पर्वतन्यासोत्क्षुभितचञ्चलजलकलुषमित्यर्थः । पयोधिं = सागरम् । विलङ्घ्य = उल्लङ्घ्य, समुत्तीर्य । लङ्कां निकषा = लङ्कायाः समीपे । हनिष्यति = अवधीत् । अदः = एतत्, रावणहननम् । (भवान्) स्मरति = प्रत्यभिजानाति किम् ?

कोशः—'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः । 'समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः । उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः ॥ रत्नाकरो जलनिधिर्यादःपतिरपां पतिः' इत्यमरः । 'समयानिकषाब्दौ च सामीप्ये त्वव्यये मतौ' इति हलायुधः ।

समासः—वनस्यान्तः वनान्तः, तस्मात् वनान्तात् (त० पु०) । वनिताम् अपहरतीति वनितापहारी, तं वनितापहारिणम् । चलन्ति जलानि यस्य सः चलज्जलः, आबद्धश्च चलज्जलश्च आबद्धचलज्जलः, स चाऽसौ आविलश्च आबद्धचलज्जलाविलः । पयांसि धीयन्ते अस्मिन्निति पयोधिः, तं पयोधिम् । दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथिः ।

व्याकरणम्—दाशरथिः—दशरथशब्दादपत्यार्थे 'अत इञ्' (४।१।९५)इति इञ्प्रत्ययः । पयोधिः—पयस्पूर्वाद् धाधातोः 'कर्मण्यधिकरणे च' (३।३।९३) इति किप्रत्ययः । हनिष्यति—हन्धातोः 'अभिज्ञावचने लृट्' (३।२।११२)

इति भूते लट्, ततः लृट्कार्यम् । लङ्कां निकषा—'अभितःपरितःसमयानिकषा-हाप्रतियोगेऽपि' इति वार्तिकेन द्वितीया ।

हिन्दी—आपने दशरथ-पुत्र होते हुए दण्डक वन से (अपनी) पत्नी सीता का अपहरण करने वाले इस रावण को, पुल बाँधने से चञ्चल जल वाले तथा क्षुब्ध समुद्र को लाँघकर लंका के पास में मारा था। यह (इस बात को) आप स्मरण करते हैं क्या ? ॥ ६८ ॥

एष शिशुपाल रावण एवेति नटदृष्टान्तेन समर्थयति—

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरामवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम् ।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः परैः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—अथ सम्प्रति छलनापरः एषः शैलूषः भूमिकाम् इव अपराम् उपपत्तिम् अवाप्य शिशुपालसंज्ञया तिरोहितात्मा (सन्) सः अपि परैः असः प्रतीयते ।

बालबोधिनी—अथ=रावणदेहत्यागानन्तरम् । सम्प्रति=इदानीम् । छलना-परः=वञ्चनाप्रधानः, परप्रतारणपरायणः । एषः=रावणः । शैलूषः=नटः । भूमिकामिव=रूपान्तरमिव, पात्रान्तरमिव । अपराम्=अन्याम् । उपपत्तिं=रूपम्, जन्मान्तरमित्यर्थः । अवाप्य=गृहीत्वा, लब्ध्वा । शिशुपालसंज्ञया=शिशुपालनाम्ना । तिरोहितात्मा=तिरोहितस्वरूपः सन्, संवृतदेहः सन् । सोऽपि स एव=रावण एव, सन्नपि । परैः=अन्यैः लोकैः । असः=तद्भिन्न एव । प्रतीयते=ज्ञायते ।

कोशः—'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । 'शैलूषो नट-भिल्लयोः' इति विश्वः ।

समासः—छलनायां परः (तत्परः) छलनापरः (त० पु०) । अथवा—छलना परं प्रधानं वस्तु यस्य सः छलनापरः (ब० व्री०) । तिरोहितः आत्मा यस्य येन वेति तिरोहितात्मा । शिशुपाल इति या संज्ञा, तया शिशुपालसंज्ञया । न सः असः (नञ्समासः) ।

व्याकरणम्—शिलूषस्य ऋषेरपत्यं पुमान् शैलूषः—शिलूष+अण् । प्रतीयते—प्रति+इ+कर्मणि लट्—त ।

हिन्दी—इसके बाद (रावण के शरीर को छोड़ने के पश्चात्) दूसरों को छलने में तत्पर वह रूपान्तर को धारण करने वाले नट के समान दूसरे जन्म को प्राप्त करके, इस समय शिशुपाल नाम से अपने स्वरूप को छिपाये हुए वह रावण होते हुए भी अन्य जनों को दूसरा ही प्रतीत होता है ॥ ६९ ॥

शिशुपालस्वरूपमाह—

स बाल आसीद् वपुसा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः ।

युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः ॥ ७० ॥

अन्वयः—सः बालः सन् वपुषा चतुर्भुज आसीत्, मुखेन पूर्णेन्दुनिभः (आसीत्) त्रिलोचनः (आसीत्), सम्प्रति युवा सः कराक्रान्तमहीभृत् उच्चकैः तेजसा असंशयं रविः (अस्ति) ।

बालबोधिनी—सः=शिशुपालः । बालः सन्=शिशुरेव, बाल्यावस्थायामित्यर्थः । वपुषा=शरीरेण । चतुर्भुजः=भुजचतुष्टयवान्, चतुष्करः । आसीत् । मुखेन=आननेन । पूर्णेन्दुनिभः=पूर्णचन्द्रसदृशः । आसीत् । त्रिलोचनः=त्रिनेत्रः । आसीत् । बाल इति विशेषणात् सम्प्रति तत्सर्वं तिरोहितमिति भावः । सम्प्रति=इदानीम् । युवा=तरुणः सन् । सः=शिशुपालः । कराक्रान्तमहीभृत्=करदीकृतभूपालः, दण्डपराभूतमहीश्वरः । सूर्यपक्षे—किरणाधिष्ठितभूधरः, अंशुव्याप्तशैल. । उच्चकैः=अतिमहता । तेजसा=प्रतापेन । असंशयम्=निश्चितम्, ध्रुवम् । रविः=सूर्य एव । अस्तीत्यर्थः । उक्तं च—

'शिशुपालः पुरा जातस्त्रिनेत्रश्च चतुर्भुजः ।
पितरौ वाऽथ तं दृष्ट्वा हातुं वै चक्रतुर्मतिम् ॥
उच्चचाराथ नभसि वागेवमशरीरिणी ।
नैष त्याज्यो महाराज ! श्रीमान् वीरो भविष्यति ॥
स चैष वधको भावी यं दृष्ट्वा निपतिष्यतः ।
बाहू नेत्रं च सहसा तद् बुद्ध्वा पाल्यतामयम् ॥' इति ।

अत्रार्थान्तरप्रतीत्या तस्य (शिशुपालस्य) सर्वदेवमयत्वमुक्तम् । चतुर्भुजः=नारायणः, इन्दुः=शशिः, त्रिलोचनः=शिवः, रविः=सूर्यः । अत्र तेजसेत्यनेन शिशुपालस्य रविस्वरूपेणोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः । सा चोत्प्रेक्षा कराक्रान्तेत्यादिश्लेषेणानुप्राणिता । 'पूर्णेन्दुनिभः' इत्यत्र चोपमालङ्कारः । उभयोरपि उपमोत्प्रेक्षयोः तिलतण्डुलन्यायेन नैरपेक्ष्येणावस्थानात् संसृष्टिरलङ्कारः ।

कोशः—'गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । 'वयस्थस्तरुणो युवा' इत्यमरः ।

समासः—चत्वारः भुजा यस्य सः चतुर्भुजः (ब० व्री०) । पूर्णश्चाऽसौ इन्दुश्च पूर्णेन्दुः, पूर्णेन्दुना तुल्यः पूर्णेन्दुनिभः । त्रीणि लोचनानि यस्याऽसौ त्रिलोचनः (ब० व्री०) । करैः आक्रान्ता महीभृतः येन सः कराक्रान्तमहीभृत् । अविद्यमानः संशयः यस्मिन् तत् तथा असंशयम् ।

व्याकरणम्—महीभृतः—मही + भृ + क्विप्। आसीत्—अस् + लङ्—तिप् + इट्।

हिन्दी—वह शिशुपाल बालक होते हुए अर्थात् बचपन में शरीर से चार भुजा वाला था, मुख से पूर्ण चन्द्र के सदृश था तथा तीन नेत्र वाला था। इस समय युवा होने पर वह करग्रहण द्वारा राजाओं को वशीभूत करने वाला (सूर्यपक्ष में—अपनी किरणों द्वारा पर्वतों को आक्रान्त करने वाला) अपने अत्यधिक तेज से सूर्य (के तुल्य) हो रहा है, इसमें सन्देह नहीं है।

टिप्पणी—यहाँ शिशुपाल को चतुर्भुज शब्द से विष्णु, इन्दु शब्द से चन्द्रमा, त्रिनेत्र शब्द से शिव तथा रवि शब्द से सूर्य के रूप में व्यञ्जित किया है। इससे शिशुपाल का सर्वदेवमयत्व प्रकट होता है।

शिशुपाल की माता सात्वती राजा कुन्तिभोज की पुत्री थी, जो श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की चचेरी बहन थी। जब शिशुपाल उत्पन्न हुआ तो उसकी चार भुजाएँ तथा तीन नेत्र थे। उसे इस प्रकार का देखकर सात्वती डरी और उसे कहीं दूर छोड़ना चाहा। उसी समय आकाशवाणी से यह सुनाई पड़ा कि यह एक बलवान् राजा होगा। इसको जिसकी गोद में रखने से तुरन्त ही इसके दो हाथ और तीसरा नेत्र अदृश्य हो जायँ, वही इसको मारने वाला होगा। अतः जो व्यक्ति शिशुपाल को देखने के लिए आता था, सात्वती उसी की गोद में उसे रख देती थी। एक बार जब श्रीकृष्ण अपनी बूआ सात्वती से मिलने आये तो सात्वती ने उनकी गोद में शिशुपाल को रख दिया। बस, उसी समय उसकी दो भुजाएँ और तीसरा नेत्र अदृश्य हो गये। अब सात्वती ने समझ लिया कि इसकी मृत्यु इन्हीं के हाथों से होगी। अतः उसने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि यह तुम्हारा फुफेरा भाई है, अतः इसके अपराध को आप क्षमा करें। तब श्रीकृष्ण ने सात्वती के समक्ष शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा करने की प्रतिज्ञा की॥ ७०॥

शिशुपालस्य देवताप्रसादाभावेऽपि अद्वितीयपराक्रमत्वमाह—

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया।
दशाननादीनभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् हसत्यसौ॥ ७१॥

अन्वयः—यदृच्छया स्वयं सुरदैत्यरक्षसाम् अनुग्रहावग्रहयोः विधाता असौ अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् दशाननादीन् हसति।

बालबोधिनी—यदृच्छया=स्वेच्छया। स्वयम्=आत्मनैव। सुरदैत्यरक्षसां=

देवदानवराक्षसानाम् । अनुग्रहावग्रहयोः = प्रसाददण्डयोः । 'अनुग्रहापग्रहयोः' इति पाठे प्रसादापमानयोरित्यर्थः । विधाता = विधायकः, कर्त्ता । असौ = शिशुपालः । अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्=अर्चितदेवतादत्तपराक्रमातिशयान् । दशाननादीन् = रावणहिरण्यकशिप्वादीन् । हसति = उपहसति ।

कोशः—'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः स्वैरता चेति ताः समाः इत्यमरः । 'असुराः दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः' इत्यमरः ।

समासः—सुराश्च दैत्याश्च रक्षांसि चेति सुरदैत्यरक्षांसि, तेषां सुरदैत्यरक्षसाम् (द्वन्द्वः) । अभिराद्धाभिः देवताभिः वितीर्णः वीर्यातिशयः येषां येभ्यः वा, तान् अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् (ब० व्री०) । दश आननानि यस्याऽसौ दशाननः, दशाननः आदिर्येषां, तान् दशाननादीन् (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—विधाता—वि + धा + तृच् । हसति—हस + लट्—तिप् ।

हिन्दी—अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं ही देव, दानव तथा राक्षसों के प्रसाद एवं दण्ड को करने वाला वह शिशुपाल, आराधित (शिवादि) देवताओं के (वरदान के) द्वारा प्राप्तातिशय पराक्रम वाले रावणादिकों का उपहास करता है ।

टिप्पणी—सुर, दैत्य एवं राक्षस ये तीन भिन्न-भिन्न जाति के माने जाते हैं । **सुर**—दक्ष की पुत्री अदिति तथा कश्यप की सन्तान सुर कहे जाते हैं । **दैत्य**—दक्ष की पुत्री दिति तथा कश्यप के पुत्र दैत्य कहलाते हैं । इन्होंने अनेक बार देवताओं को भी परास्त किया था । उन्हीं में वलि तथा हिरण्याक्ष जैसे प्रभावशाली योधा हुए हैं । **राक्षस**—दक्ष की पुत्री खशा एवं कश्यप की सन्तान हैं । अन्य मत के अनुसार ये पुलस्त्य की सन्तान हैं ॥ ७१ ॥

शिशुपालस्य संसारपीडकत्वमाह—

बलावलेपादधुनाऽपि पूर्ववत् प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥७२॥

अन्वयः—जिगीषुणा तेन बलावलेपात् अधुना अपि पूर्ववत् जगत् प्रबाध्यते । सती योषित् इव सुनिश्चला प्रकृतिः भवान्तरेषु अपि पुमांसम् अभ्येति ।

बालबोधिनी—जिगीषुणा–विजयेच्छुना, जयशीलेन, नित्योत्साहवतेत्यर्थः । तेन = शिशुपालेन । बलावलेपात् = बलदर्पात् । अधुना = इदानीमपि । जगत् = भुवनम् । प्रबाध्यते = प्रपीड्यते । तथाहि—सती=पतिव्रता । योषिदिव=नारीव । सुनिश्चितेति पाठे सदभ्यस्तेत्यर्थः । प्रकृतिः = सुनिश्चला = ध्रुवा, स्थिरतरा ।

स्वभावः । भवान्तरेष्वपि=जन्मान्तरेष्वपि । पुमांसं=पुरुषम् । अभ्येति= प्राप्नोति । 'अन्वेति' इति पाठान्तरे अनुगच्छतीत्यर्थः । उक्तं च भगवता मनुना—

'पतिं या नाभिचरति मनोवाक्कायसंयता ।
सा भर्तुर्लोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥' इति ।

अत्र योषिदेवेत्यत्रोपमालङ्कारः । किञ्चोत्तरार्धोक्तेन सामान्यार्थेन पूर्वार्धोक्तस्य विशेषार्थस्य समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ।

कोशः—'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भः' इत्यमरः । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । 'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः । प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा ॥' इत्यमरः ।

समासः—बलस्य अवलेपः बलावलेपः, तस्मात् बलावलेपात् (त० पु०) । जेतुमिच्छुः जिगीषुः, तेन जिगीषुणा । सुष्ठु निश्चला सुनिश्चला । अन्ये भवाः भवान्तराणि, तेषु भवान्तरेषु (त० पु०) ।

व्याकरणम्—जिगीषुणा—जि+सन् 'सनाशंसभिक्ष उः' (३।२।१६८) इति उप्रत्ययः । पूर्ववत्—पूर्वशब्दात् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५।१।११५) इति वतिप्रत्ययः । प्रबाध्यते—प्र+बाध् कर्मणि लट्—त । अभ्येति—अभि+ इ+लट्—तिप् ।

हिन्दी—विजय की इच्छा करने वाला वह शिशुपाल बल के गर्व से इस समय भी पहले (रावणादि पूर्व जन्म की अवस्था) के समान संसार को पीड़ित कर रहा है, (क्योंकि) पतिव्रता नारी के समान स्थिर स्वभाव (प्रकृति) दूसरे जन्म में भी उसी (पूर्व जन्म के) पुरुष को प्राप्त कर लेता है ॥ ७२ ॥

अथ फलितमाह—

तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधेर्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम् ।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो निपातनीया हि सतामसाधवः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—तत् विधेः उल्लङ्घितशासनम् एनं कीनाशनिकेतनातिथिं विधेहि, हि शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः असाधवः सतां निपातनीयाः ।

बालबोधिनी—तत्=तस्मात् कारणात् । विधेः=विधातुः, ब्रह्मणः । उल्लङ्घितशासनम्=अतिक्रान्ताज्ञम् । एनं=शिशुपालम् । कीनाशनिकेतनातिथिं= यमगृहाभ्यागतम्, यमराजसदनप्राघुणिकम् । विधेहि=कुरु, व्यापादयेत्यर्थः । हि= यतः । शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः=अशुभाचारपरिपक्वविपदः, स्वाशुभाचारपरिप्राप्तविपत्तयः । असाधवः=दुर्जनाः, दुष्टाः । सतां=सज्जनानाम् । निपात-

नीयाः=मारणीयाः, वध्याः। 'विपादनीया' इति पाठान्तरेऽपि तुल्य एवार्थः। 'तदेनमि'त्यस्य स्थाने तमेत्रमिति पाठान्तरे—तं=चैद्यम्, शिशुपालम्। एवं= पूर्वोक्तप्रकारेण विधेस्त्यक्ताज्ञमिति योज्यम्। अत्राऽपि पूर्ववत् सामान्येन विशेष-समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः।

कोशः—'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। 'अतिथिर्ना गृहागते' इत्यमरः। 'कीनाशः कर्कशे क्षुद्रे कृतान्तोपांशुघातिनोः' इति विश्वः।

समासः—उल्लङ्घितं शासनं येनाऽसौ उल्लङ्घितशासनः, तम् उल्लङ्घितशासनम् (ब० व्री०)। कीनाशस्य निकेतनं कीनाशनिकेतनम्, तस्य अतिथिः, तं कीनाशनिकेतनातिथिम् (त० पु०)। शुभादितरः शुभेतरः, शुभेतरश्चाऽसौ आचारश्च शुभेतराचारः, विपाकेन निर्वृत्तः विपक्त्रिमाः, शुभेतराचारेण विपक्त्रिमाः आपदो येषां ते शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः (त० पु० गर्भ० ब० व्री०)। न साधवः असाधवः (नञ् त० पु०)।

व्याकरणम्—वि+धा+लोट्—सिप्—हि। विपक्त्रिमाः-विपूर्वात् पच्-धातोः 'ड्वितः क्त्रिः' (३।३।४८) इति क्त्रिप्रत्ययः, 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति वार्तिकेन तद्धितो मम् प्रत्ययः। निपातनीयाः—नि+पत+णिच्+अनीयर्।

हिन्दी—इसलिये (देव, दैत्य तथा राक्षसों के अनुग्रह तथा निग्रह को स्वेच्छापूर्वक स्वयं करने से) ब्रह्मा की आज्ञा का उल्लङ्घन करने वाले (संसार की मर्यादा को तोड़ने वाले) इस शिशुपाल को आप यमराज के घर का अतिथि बनाइये अर्थात् इसको मार डालिये। क्योंकि अशुभ आचरण से परिपक्व आपत्ति वाले दुष्ट, सज्जनों के मारने योग्य होते हैं।

टिप्पणी—'शुभेतराचार०' इत्यादि विशेषण का अभिप्राय यह है कि ऐसे दुष्टों का सर्वनाश तो अपने दुराचार (पाप) के परिपाक से ही हो जाता है, आप (कृष्ण) जैसे सज्जन तो उनके मारने में निमित्त मात्र हुआ करते हैं। कहा भी है—'अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते' इति ॥ ७३ ॥

अथ दुष्टनिग्रहे शिष्टानुग्रहोऽपि स्यादित्याह—

हृदयमरिवधोदयादुदूढद्रढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य।
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—अरिवधोदयात् उदूढद्रढिम पुरन्दरस्य हृदयं पुनः घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वं दधातु।

बालबोधिनी—अरिवधोदयात्=शत्रुविनाशलाभात्, रिपुनाशरूपाभ्युदयात्। उदूढद्रढिम=धृतदार्ढ्यम्। 'अवाप्तद्रढिमे'ति पाठे प्राप्तदृढत्वमित्यर्थः। 'उपोढद्रढि-

मे'ति पाठेऽपि स एवार्थः। पुरन्दरस्य=इन्द्रस्य। हृदयं=वक्षःस्थलम्। पुनः=भूयः। घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वं=निविडरोमाञ्चशचि-कुचाग्रत्वरितालिङ्गननिपीडनसहत्वम्। दधातु=धारयतु, वहतु। पूर्वं शिशुपाल-भयाच्चित्तविक्षेपेण त्यक्तभोगेनेन्द्रेण भवत्प्रसादान्निष्कण्टकं स्वकीयं राज्यं भुज्यतामित्यर्थः। अत्रोदूढद्रढिमेति विशेषणेन प्राप्तस्य दार्ढ्यपदार्थस्य निपीडनक्षमत्वं प्रति हेतुत्वेनोपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। किञ्च—हृदयनिपीडन-क्षमत्वसम्बन्धेऽपि असम्बन्धोक्त्या सम्बन्धेऽसम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः, वृत्त्यनुप्रासश्च। एषां त्रयाणामपि परस्परनैरपेक्ष्येणावस्थानात् तिलतण्डुलन्यायेन संसृष्टिः। पुष्पिताग्रावृत्तम्—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात्।

कोशः–'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा विडौजाः पाकशासनः। वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः। 'पुलोमजा शचीन्द्राणी' इत्यमरः।

समासः—अरेः वधः अरिवधः, स एवोदयः, तस्मात् अरिवधोदयात् (त० पु०)। उदूढः द्रढिमा येन तत् उदूढद्रढिम (ब० व्री०)। पुरः=शत्रुपुराणि दारयतीति पुरन्दरः। घनः पुलको ययोस्तौ घनपुलकौ, कुचयोः अग्रौ कुचाग्रौ, पुलोम्नः जाता पुलोमजा, पुलोमजायाः कुचाग्रौ पुलोमजाकुचाग्रौ, घनपुलकौ च तौ पुलोमजाकुचाग्रौ घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रौ, तयोः द्रुतं यः परिरम्भः (आलिङ्गनम्), तेन तत्र वा यन्निपीडनं तस्य क्षमत्वं तत्तथाभूतम्, घनपुलक-पुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिनिपीडनक्षमत्वम्।

व्याकरणम्—द्रढिमा—दृढधातोः 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२२) इति इमनिच्प्रत्ययः 'र ऋतोर्हलादेर्लघोः' (६।४।१६१) इति रभावः। दधातु—धा+लोट्—तिप्।

हिन्दी—शत्रु शिशुपाल का वध हो जाने के कारण दृढ़ता को प्राप्त करने वाला इन्द्र का हृदय फिर से अत्यन्त (घन) रोमाञ्च युक्त इन्द्राणी के स्तनों के अग्रभागों के शीघ्र आलिङ्गन में होने वाले परिपीडन (दबाव) की क्षमता को धारण करे ॥ ७४ ॥

इन्द्रसन्देशमुक्त्वा नारदे स्वर्गं प्रस्थिते सति शिशुपालं प्रति श्रीकृष्णस्य क्रोधं दर्शयति—

ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभ-
स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुनाविन्दोः श्रियं बिभ्रति।